निबन्ध-सौरभ

•

सम्पादक
डॉ० श्रीप्रसाद
डॉ० बिसम्भरनाथ

•
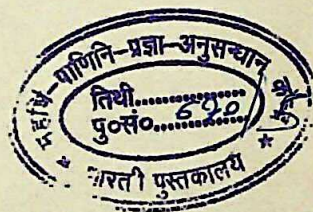
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

चतुर्थ संस्करण : सन् १९८१ ई०

मूल्य : चार रुपये

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो० बाक्स नं० ११४९
चौक, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक
सन्तोष कुमार उपाध्याय
नया संसार प्रेस
भदैनी, वाराणसी–२२१००१

अनुक्रम

निबन्ध : स्वरूप विवेचन

साहित्य की प्रमुख ललित विधाएँ काव्य, कहानी, उपन्यास और नाटक हैं, किन्तु अब निबन्ध का भी इन चार विधाओं के समान ही महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। वस्तुतः साहित्य में इन चार विधाओं के बाद पांचवी महत्वपूर्ण विधा निबन्ध ही है।

निबन्ध पूर्णतः आधुनिक विधा है और आधुनिक जीवन-परिवेश, चिन्तन तथा परिस्थितियों की देन है, फिर भी इस विधा का बोधक शब्द 'निबन्ध' पहले से प्रचलित है। निबन्ध का सामान्य तात्पर्य है बन्धन या विशेष रूप से बँधा हुआ। प्रबन्ध या रचना के रूप में भी इसका प्रयोग हुआ है, जो गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में है—"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।" पर साहित्य या गद्य के लिए इसका प्रयोग भिन्न और नवीन है। यदि निबन्ध को परिभाषित किया जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है—"निबन्ध गद्य साहित्य की वह विधा है जो चिन्तनप्रधान होती है तथा जिसमें लेखक के व्यक्तित्व का स्पर्श रहता है।"

प्रत्येक लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है, जो विचार, संस्कार, आग्रह; आचार तथा स्थापनाओं के रूप में व्यक्त होता है। यही व्यक्तित्व निबन्ध को निजत्व प्रदान करता है और लेखकीय सर्जना में भेदक बनता है। निबन्ध की पृष्ठभूमि चाहे प्राचीन हो, जैसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी या डॉ० विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध या आधुनिक जैसे शरद जोशी और हरिशंकर परसाई के निबन्ध, पर सर्जना में लेखक का व्यक्तित्व व्यंजित होता रहता है। इसी निजत्व के कारण निबन्ध की एक संज्ञा व्यक्तिव्यंजक निबन्ध चल पड़ी। अंग्रेजी में इसे 'पर्सनल एसे' कहा गया। फ्रान्सीसी लेखक मॉनतेन ने निबन्ध के लिए कहा—'अपनी कृति का विषय मैं स्वयं हूं' (आई एम माईसेल्फ द सब्जेक्ट

आव माई बुक)। इसके विपरीत विषयव्यंजक (ऑब्जेक्टिव) निबन्ध माने गये। वस्तुतः निबन्ध में वैयक्तिकता का स्पर्श अनिवार्य है और ऐसी ही रचना वास्तविक निबन्ध है।

निजत्व का स्पर्श निबन्ध में काव्य का रस उत्पन्न कर देता है। यही काव्यरस निबन्ध को ग्राह्य बनाता है और विचारों को पाठक के हृदय पर अंकित कर देता है। इसी में शैली का सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य या लालित्य ने निबन्ध को ललित निबन्ध की भी संज्ञा दी।

विषयव्यंजक निबन्ध वस्तुनिष्ठ होते हैं, जिनमें रचनाकार का लक्ष्य पाठक को तटस्थ भाव से विषय की प्रतीति कराना रहता है। ऐसी कृति में कृतिकार के विचारों का तो संभार रहता है, पर कृतिकार रचना से अपने व्यक्तित्व को दूर ही रखता है। व्यक्तित्व का स्पर्श होते ही निबन्ध फिर अपनी कोटि से पृथक् हो जाता है। विषयव्यंजक निबन्ध में शैली-सौन्दर्य-भाषिक सुगठन, व्याकरणिक निष्ठा और विचारों के तर्कपूर्ण प्रतिपादन में है, जब कि व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध रचनाकार की निजी विशेषताओं के कारण अनन्त विस्तार प्राप्त कर लेता है। विषय-व्यंजक निबन्ध में हर बात रचना के आयाम में भले ही न आए, पर व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध में हर बात, हर छोटी और साधारण से साधारण बात भी निबन्ध का रूप ले सकती है। वस्तुतः व्यक्तिव्यंजक निबन्ध के लिए निबन्ध की वस्तु मात्र एक औपचारिकता है। कपड़ा किसी भी खूँटी पर टाँगा जा सकता है अर्थात् लेखक किसी भी विषय के अन्तर्गत अपने विचार प्रस्तुत कर सकता है। निबन्धकार दूर के कुलावे मिलाकर अपनी कृति का स्वरूप खड़ा करता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का निबन्ध 'क्या लिखूँ' इसका एक उदाहरण है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' भी इसका एक प्रमाण है।

हिन्दी में निबन्ध का विकास पाश्चात्य प्रभाव से भी हुआ है और अपनी परम्परा में भी। फिर भी हिन्दी में निबन्ध का उद्भव पश्चिम की देन नहीं

है, हिन्दी की अपनी विधा के रूप में इसका आरम्भ हुआ। खड़ी बोली की विशेषता के परिणामस्वरूप निबन्ध विधा विकसित हुई। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मत से "निबन्ध रचना केवल खड़ी बोली की विशेषता है। खड़ी बोली गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी और उसमें भी निबन्ध-रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से निबन्ध हिन्दी-साहित्य का नितान्त आधुनिक रूप है।"[१]

यूरोप में निबन्ध का विकास फ्रांसीसी लेखक मॉनतेन से हुआ। यूरोप में निबन्ध की विषयवस्तु और उसकी शैली के सम्बन्ध में भी काफी चिन्तन हुआ है। बेकन के अनुसार निबन्ध 'विशृंखलित चिन्तन' (डिस्पर्स्ड मेडीटेशन्स) है। निबन्ध साहित्य की सुगठित विधा है, पर पाश्चात्य साहित्य के आरम्भिक चरणों में इसे सुसम्बद्ध साहित्य के रूप में स्वीकृति नहीं मिली थी। इसलिए जॉनसन ने निबन्ध को 'मन की असंगठित, अनियमित, अपरिपक्व तथा क्रमविहीन रचना' (ए लूज सैली ऑव द माइंड, एन इर्रेगुलर, अनडाइजेस्टेड पीस, नाट ए रेगुलर ऐंड आर्डरली कम्पोजीशन) माना है। डब्ल्यू० एच० हडसन ने निबन्ध की विषयवस्तु की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार कहा है—'वास्तविक निबन्ध मूलतः व्यक्तिव्यंजक होता है। इसका सम्बन्ध आत्मपरक साहित्य से है। प्रबन्ध (ट्रीटाइज) तथा वार्ता (डिससर्टेशन) वस्तुपरक हो सकता है, पर निबन्ध व्यक्तिपरक ही होता है।"

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि निबन्ध की शैली और विषयवस्तु में अत्यन्त वैविध्य है। शैली में किंचित् औपचारिकता या रूढ़िमुक्तता भी रहती है, जो विधा की अपूर्णता का भ्रम पैदा करती रहती है। अपूर्णता के इस भ्रम का मूल कारण है निबन्ध की विषयवस्तु में विषयान्तर, विषयान्तर के तर्क, प्रमाण और पुनः विषय की ओर संक्रमण। इस बात का आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' से समझा जा सकता है। निबन्ध में एक

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य : ले० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १४८।

बालिका यह जिज्ञासा करती है कि नाखून क्यों बढ़ते हैं ? नाखून बढ़ना प्रकृति का धर्म है। पर व्यक्ति नाखूनों को अनुपयोगी मानकर काटता रहता है। चिन्तन के क्रम में लेखक ने नाखूनों को हिंसा का प्रतीक बताया है। हिंसा मानव की आदिम वृत्ति है जो आज भी नाखूनों के अस्तित्व के रूप में मानव के साथ चिपकी हुई है। विचार की धारा आगे बढ़ती है और लेखक यह सिद्ध करता है कि हिंसा का ही परिणाम युद्ध-प्रियता तथा अस्त्र-शस्त्र संग्रह है। इन्हीं विचारों को केन्द्रित करते हुए निबन्ध फिर नाखूनों की चर्चा करके समाप्त हो जाता है। निबन्ध की इस विशिष्ट शैली से स्पष्ट है कि यद्यपि विषयवस्तु चिन्तन का वाहक बनने के लिए है, किन्तु चिन्तन का विषयवस्तु से अनौपचारिक सम्बन्ध भी होता है, औपचारिक या रूढ़ नहीं। निबन्ध में एक घास की पत्ती घास की पत्ती न होकर गम्भीर चिन्तन का आधार हो सकती है, या एक बादल मानवीय प्रकृति के विभिन्न रङ्गों का द्योतक हो सकता है। निबन्ध का यही सौन्दर्य है और यही मुक्त या निबन्ध चिन्तन है।

निबन्ध के समानान्तर लेख शब्द भी चलाया जाता है। पर लेख और निबन्ध में अन्तर है। लेख विषयप्रधान या औपचारिक रूप से विषयानुवर्ती होता है, तथा उसमें क्रमबद्धता, तर्क और प्रमाण की शृंखलाबद्धता होती है। लेख में निबन्ध की सरसता और सजीवता नहीं होती, बल्कि विचारों का भार होता है। फिर भी वस्तुपरक और गम्भीर विवेचन के लिए लेखों की ही सर्जना होती है, निबन्धों की नहीं। निबन्ध की रोचकता लेख में नही आती और निबन्ध को लेख की अरोचकता या चिन्तन के भार से बचाया जाता है।

साहित्य विधाओं में निबन्ध ऐसी विधा है, जिससे हर रचना का आरम्भ; मध्य और अन्त अपना ही होता है। निबन्ध का पूरा रचना-बन्ध चमत्कारिक होता है। किसी निबन्ध का आरम्भ व्यक्तिगत घटना से होता है तो किसी का कविता की किसी पंक्ति से अथवा कोई निबन्ध विचार-सूत्र से आगे बढ़ता है और कोई निबन्ध किसी ऐसे ब्यौरे के साथ, जो निबन्ध के मूल कथ्य से

जुड़ता रहता है। निबन्ध का आरम्भ वार्तालाप या नाटकीय शैली में भी हो सकता है। जिस प्रकार निबन्ध के आरम्भ में चमत्कार होता है, उसी प्रकार मध्य और अन्त भी चमत्कारपूर्ण होता है। हर निबन्ध की तर्कसरणि अपनी होती है जो विषयानुवर्ती भी हो सकती है, और विषयान्तरित भी। संकलन के निबन्ध 'अपूर्ण' का आरम्भ वसन्त-चर्चा से होता है और वैयक्तिकता का स्पर्श लेकर निबन्ध चिन्तन की गहराइयों में उतरता है। 'अफसर' हास्य निबन्ध है जो बातचीत के स्वर में आगे बढ़ता है और 'अफसर' तथा 'नेता' पर व्यंग्य करते हुए चिन्तन की परिसमाप्ति पर पहुँचता है। हर निबन्ध की अपनी एक शैली बनती है, जो लेखक के व्यक्तित्व और उसकी मनोदशा पर आधारित रहती है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि 'मानव अपनी शैली स्वयं है' (स्टाइल इज द मैन हिमसेल्फ)।

आज के साहित्य की नवीन विकसित विधाओं में अपनी रोचकता के कारण निबन्ध का अनवरत विकास हो रहा है। चिन्तन की गहराई होते हुए भी शैली की सरसता के कारण निबन्ध शुष्क नहीं हो पाता। निबन्ध की शैली अत्यन्त लोचपूर्ण होती है, इतनी लोचपूर्ण कि कभी-कभी निबन्ध कविता और कहानी जैसा प्रतीत होने लगता है। वस्तुपरक रचना 'लेख' में विचारों की लोच का अवसर नहीं रहता।

नवीन लोकप्रिय विधा के रूप में हिन्दी में निबन्ध का बहुत अधिक विस्तार हो चुका है। चिन्तन की तीव्रता और पैनेपन के कारण हिन्दी साहित्य में इस विधा को विशेष स्वीकृति मिली है।

निबन्ध : विकासक्रम

जैसा पहले उल्लेख हुआ है, निबन्ध आधुनिक गद्य साहित्य की सशक्त विधा है। इस विधा के उद्भव की दृष्टि से भारतेन्दु युग ही समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इसके पूर्व तात्विक गुणों से परिपूर्ण विशिष्ट गद्य रचना की संज्ञा से अभिहित निबन्ध का अभाव ही दृष्टिगत होता है। निबन्ध मूलतः

वैचारिक सन्दर्भों को प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रदान करने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें विषयनिष्ठ बौद्धिकता का समावेश एवं विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि का नियमन होता है। भारतेन्दु-मण्डल प्रमुखरूप से निबन्ध विधा का प्रयोक्ता रहा है, उसकी सफल-असफल चेष्टाएँ इसको गति प्रदान करने में प्रथम सोपान की भांति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती रही हैं। युग-चेतना से आलोकित होने के कारण इस युग के लेखकों की दृष्टि राष्ट्रीय भावना एवं समाज-सुधार के प्रति उन्मुख रही है। अंग्रेजों की राजनीतिक दासता को विशृंखलित करने के लिए इन रचनाकारों ने निबन्ध के द्वारा जनजागरण के माध्यम से देशवासियों में ऐसी चेतना का व्यापक प्रचार-प्रसार किया, जिससे जन-सामान्य में सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने की अभूतपूर्व शक्ति त्वरित गति से उत्पन्न हुई।

हिन्दी का गद्य साहित्य पद्य की भांति न तो व्यापक परम्परा का अनुगमन करता है, और न भाषाजन्य विविधता ही इसमें उपलब्ध होती है। भारतेन्दु-कालिक निबन्धकारों में न तो पुरातनता के प्रति व्यामोह था, और न आधुनिकता के प्रति आकर्षण। निरपेक्ष दृष्टि से सन्दर्भ सापेक्ष युगजीवन को चित्रित करने की प्रवृत्ति ही इनके व्यक्तित्व को महानता प्रदान करती है। भाषा-प्रेम के प्रति निष्ठावान इन निबन्धकारों ने चेतना को व्यापक प्रसार देने के लिए भावात्मक आन्दोलन का सूत्रपात किया जो भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रप्रेम से अनुप्राणित था। निज भाषा का उत्थान ही राष्ट्रीय प्रेम का पर्याय सिद्ध हुआ। आत्मकथ्य के सम्प्रेषण के लिए इन लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं का संबल स्वीकार किया जिससे इनके विचार दिगन्तव्यापी हो गये। पत्र-पत्रिकाओं के कारण ही इनके अभिप्रेत ने जनसामान्य के मस्तिष्क को चिन्तन के लिए विवश किया तथा उन्हें चिन्तन के मार्ग की ओर अग्रसर किया। जीवन के विविध आयामों को रेखांकित करने वाले ऐसे विशिष्ट निबन्धकारों में भारतेन्दु हरिचन्द्र सशक्त चिन्तक, बालकृष्ण भट्ट आत्माभिव्यंजक, प्रतापनारायण मिश्र सामाजिक क्रियाकलापों के सूक्ष्म द्रष्टा और बालमुकुन्द गुप्त

उल्लेखनीय हैं। इनके निबन्धों में भावों का उच्छल प्रवाह, कल्पना की अभीप्सित क्षमता, व्यंग्य-विनोद की आह्लादक सरिता और वाग्वैदग्ध्य के साथ ही सुबोध रचनात्मक प्रक्रिया का स्पष्ट स्वरूप दृष्टिगत होता है। इनके साथ ही हिन्दी निबन्ध के विकास का प्रथम सोपान समाप्त होता है। यद्यपि यह युग निबन्ध लेखन प्रक्रिया का प्रारम्भिक युग था, फिर भी लेखकों की सजगता के कारण निबन्धों में मौलिकता का सम्यक् परिपालन किया गया है। औपचारिकता के लिए इसमें स्थान नहीं है। इस युग के निबन्धों में एक ओर किशोरसुलभ चंचलता विद्यमान है तो दूसरी ओर प्रौढ़ चिन्तन की धूमिल क्षमता भी।

हिन्दी निबन्धों के विकास का द्वितीय चरण द्विवेदी युग से प्रारम्भ होता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि निज भाषा की अभिव्यक्ति में व्यवधानकारक तत्वों को परिष्कृत करने की ओर अधिक उन्मुख रही है। सरस्वती पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने लेखकों को भाषाबोध एवं सम्यक् प्रयोग की ओर आकर्षित किया, जिसके परिणामस्वरूप भाषिक प्रयोग सम्बन्धी त्रुटियों के प्रति सतर्कता के कारण भारतेन्दु-युग की अपेक्षा इस युग में निबन्धों का संयोजित स्वरूप तथा भाषिक स्तरोन्नयन के साथ ही भाषा की रचनात्मकता में अभिवृद्धि हुई।

इन निबन्धकारों ने भारतेन्दुयुगीन हार्दिकता के स्थान पर चिन्तन की गरिमा लेकर निबन्धों की सर्जना की, फलतः इनके निबन्धों में किशोरसुलभ चपलता के स्थान पर गाम्भीर्य की प्रधानता लक्षित होती है। सरस्वती पत्रिका के संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का निबन्धों को सम्यक् स्वरूप प्रदान करने में अविस्मरणीय अवदान रहा है। भारतेन्दु-युग में साहित्य की संरचना के लिए विविध दिशाओं को अनावृत करने की चेष्टा की गयी; किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमें कथ्य सम्प्रेषण की अभीप्सित क्षमता विद्यमान नहीं थी। द्विवेदी जी ने भाषा के नियमन द्वारा उन्हें व्यवस्थित क्रम देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया, क्योंकि भाषिक असमर्थता समर्थ विचारों को भी

विकृत स्वरूप प्रदान कर जन्म दे सकती है, द्विवेदी जी इससे भलीभांति परिचित थे।

साहित्य को सामाजिक संरचना का मुख्य घटक मानने वाले द्विवेदी जी अपनी मान्यताओं के प्रति अत्यन्त सतर्क रहे हैं। उनका गम्भीर चिन्तन भाषा के प्रवाह में नियंत्रित होकर ही निवन्ध में रूपायित हुआ है। व्यक्तिपरक निबन्धों का लेखन इस युग में समाप्तप्राय हो गया था। भावात्मक निवन्धों की संरचना में भी सूक्ष्म रहस्यों का प्रकटीकरण जागरूक लेखकों के द्वारा किया गया है। पांडित्य एवं विदग्धता ही इस युग की अपनी विशेषता थी। भारतेन्दु मण्डल की आकांक्षाओं की सम्यक् परितृप्ति द्विवेदी युग के लेखकों द्वारा ही हुई है, इसमें सन्देह नहीं। वैचारिक दृष्टि से इस युग के निबन्ध शालीनता, संयम और विवेक आदि महानतम गुणों से अनुप्राणित हैं।

द्विवेदीयुगीन निबन्धकारों में प्राध्यापकीय शैली में गम्भीर चिन्तन की पांडित्यपूर्ण अभिव्यक्ति करने वाले बाबू श्यामसुन्दर दास, संस्कृत के मूर्द्धन्य विद्वान् एवं हिन्दी के सिद्धहस्त कलाकार पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', भाव-संवलित आवेशपूर्ण भाषा एवं विषयवस्तु को भावात्मक कलेवर प्रदान करने वाले माधवप्रसाद मिश्र, करुणा एवं सहानुभूति के मूर्तिमान स्वरूप सरदार पूर्ण सिंह तथा आलोचनात्मक निबन्धों के प्रणेता पद्मसिंह शर्मा आदि ऐसे ही हस्ताक्षर हैं जो युग की समस्त संकल्पनाओं को व्यक्तित्व में गुंफित कर आत्म-कथ्य का सम्प्रेषण करते हैं।

हिन्दी निबन्ध-विकास के क्रम में तृतीय चरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रारम्भ होता है, यद्यपि शुक्ल जी ने द्विवेदी युग में निबन्ध लेखन प्रारम्भ कर दिया था। अपने व्यक्तित्व की गरिमा के कारण ही युग-प्रवर्तक व्यक्तित्व के रूप में वे निबन्ध जगत् के समक्ष उपस्थित हुए। निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में शुक्ल जी का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। विषयवस्तु-प्रधान निबन्धों की सर्जना के कारण ही शुक्ल जी ने द्विवेदीकालीन निबन्धकारों से पृथक् व्यक्तित्व का परिचय दिया। भावों की प्रबल विश्लेषणात्मक क्षमता,

श्रृंखलाक्रम में विषयवस्तु का निरूपण, शाब्दिक प्रयोगों की कुशलता, स्वच्छन्द वाक्य-नियोजनक्षमता और भावानुवर्तिनी भाषा के प्रयोग की दृष्टि से शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुए। इनके निबन्धों में विषय-वस्तु एवं व्यक्तित्व, हृदय एवं बुद्धि, चिन्तन एवं भावुकता का मणिकांचन योग प्राप्त होता है।

शुक्लयुगीन निबन्धकारों में समीक्षात्मक, सैद्धान्तिक एवं व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार बाबू गुलाबराय, सिद्धहस्त शैलीकार, व्यक्तिव्यंजक एवं व्यंग्यविनोदी लेखक रामवृक्ष बेनीपुरी, व्याख्यानमूलक मनस्वी लेखक माखनलाल चतुर्वेदी; विविध सन्दर्भ से अनुप्राणित एवं व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार सियारामशरण गुप्त, अचेतन वस्तुओं में चेतनता का आरोप करने वाले, प्रतीकात्मक निबन्ध लेखकों की परम्परा में वियोगी हरि, डॉ० रघुवीर सिंह और राय कृष्णदास आदि उल्लेखनीय हैं।

निबन्ध विकास के क्रम में शुक्ल युग के अनन्तर आधुनिक युग का आगमन होता है। आधुनिक युग में व्यक्तिव्यंजक निबन्धकारों की परम्परा आगे बढ़ती है। यद्यपि द्विवेदी युग में भी आत्माभिव्यंजक निबन्धों का अभाव विद्यमान नहीं था, फिर भी सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी गौरवान्वित हुए। वास्तव में द्विवेदी जी की लेखनी ने व्यक्तिव्यंजक निबन्धों का अस्तित्व स्वीकार करने के लिए जनमानस को विवश कर दिया। व्यक्तिव्यंजक निबन्धों के लिए अनन्त विस्तार की सम्भावना रहती है, जब कि विचार-प्रधान निबन्ध विषयवस्तु तक केन्द्रित होते हैं। लेखक की विशिष्ट मनोवृत्ति ही विषय-चयन की प्रेरणा प्रदान करती है।

वस्तुतः हिन्दी निबन्धों को रचनाधर्मिता के शिखर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को है। व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों का जो वैचारिक प्रतिपादन इनके निबन्धों में दृष्टिगत होता है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की महानता का वैशिष्ट्य यही है कि जिन प्रसंगों में दूसरे निबन्धकारों की लेखनी अवरुद्ध हो जाती है; यदि विषयवस्तु अनुकूल

हो तो उसी में इनकी चेतना रस पाती है। द्विवेदी जी का निबन्ध-विषयक यह कथन पूर्णतः चरितार्थ होता है—"मैं बालू से भी तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय।" इनके समस्त निबन्ध काया में प्राण की भाँति हैं।

वर्तमान परिवेश का चिन्ताकुल जीवन निबन्धकारों की कल्पनात्मक परिधि में उन्मुक्त संचरण की स्वतन्त्रता बाधित करता है। व्यंग्यात्मक अभि-व्यक्ति हेतु रचनाकार विवश होता है। फलतः व्यंग्यात्मकता युगधर्म का पर्याय हो गयी है। फिर भी आज का निबन्धकार जनतान्त्रिक मान्यताओं के प्रति अधिक जागरूक है। व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार की सर्जनात्मक क्षमता अभिरुचि के अनुकूल विषयवस्तु की उपलब्धि पर अकस्मात् मुखरित हो जाती है। निबन्धकार आत्मकथ्य के लिए अनन्त सम्भावनाओं में से उपयुक्त मान्यताओं का चयन कर मुक्त कंठ से कथ्य की अभिव्यक्ति करने लगा है। महादेवी की प्रसिद्धि का मूल रहस्य रेखाचित्रों का सम्यक् निरूपण है। अतीत के चलचित्र, शृंखला की कड़ियाँ, स्मृति की रेखाएँ एवं मेरा परिवार इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। समाज के शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक विकृतियों के प्रति व्यंग्यात्मक आघात और समाजसुधार की प्रवृत्ति ही महादेवी के व्यक्तित्व को विशिष्ट गरिमा प्रदान करती है।

दिनकर एवं अज्ञेय जैसे लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने भी निबन्ध-रचना के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। विविध विषयों से अनुप्राणित होने के कारण दिनकर की निबन्ध रचना अतिशय मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी है। इनके निबन्धों में पाठक और लेखक आत्मीयता के परिवेश में इतना तल्लीन हो जाता है कि दोनों के बीच विभेदक रेखा का बोध नहीं हो पाता। अज्ञेय की सर्जनात्मक क्षमता अप्रतिम है। त्रिशंकु, सब रंग और कुछ राग तथा आल-बाल आदि निबन्ध-संग्रह इनके ललित एवं मौलिक स्वच्छंद चिन्तन के परिचायक हैं।

संस्मरण एवं रेखाचित्रों के सन्दर्भ में दूसरा महत्वपूर्ण नाम है श्री बनारसी-दास चतुर्वेदी का। अतीत को प्रकाश प्रदान करने में समर्थ भावात्मक निबन्ध-

कार श्री रघुवीर सिह को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है। इस युग के प्रमुख निबन्ध-लेखकों में गजानन माधव मुक्तिबोध, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० रामविलास शर्मा, नलिनविलोचन शर्मा, डॉ० भगीरथ मिश्र और कुबेरनाथ राय आदि के निबन्ध उनके विविध अध्ययन, बोध एवं अनुसन्धानात्मक दृष्टि से अनुप्राणित हैं। राहुल सांकृत्यायन के निबन्ध वृहत् पर्यटनानुभवों एवं पाण्डित्य की गरिमा से अनुस्यूत हैं।

इस विकास क्रम में महत्वपूर्ण निबन्ध-लेखकों में भारतीय संस्कृति के उपासक डॉ० विद्यानिवास मिश्र की लेखनी अद्‌भुत कथ्य एवं सम्प्रेषणात्मक क्षमता से परिपूर्ण है। देश-विदेश का गम्भीर बोध होने के साथ ही लेखक स्वदेश अनुराग की उपेक्षा नहीं कर पाता है। उसे देश की सोंधी मिट्टी का आकर्षण बार-बार खींचता रहता है। जीवन की साधारण सी घटनाओं से प्रेरणा लेकर निबन्ध रचना को उत्कर्ष के शिखर पर प्रतिष्ठित करने में इनको अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। प्रस्तुत संकलन में 'मैंने सिल पहुँचाई' ललित-निबन्ध लेखक की मनोदशा एवं गम्भीर चिन्तन का परिचायक है।

इस परम्परा के अन्य सिद्धहस्त निबन्ध-लेखकों में डॉ० शिव प्रसाद सिंह; धर्मवीर भारती, कुबेरनाथ राय और विवेकी राय आदि हैं। युग-दृष्टि के आधार पर व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में प्रभाकर माचवे, हरिशंकर परसाई एवं शरद जोशी का भी अपना वैशिष्ट्य है।

इस प्रकार अपने विकास-क्रम में हिन्दी निबन्ध ने साहित्य को चिन्तन का सशक्त और सहृदयतापूर्ण धरातल प्रदान किया है। निबन्ध विधा के इस धरातल का अनवरत विस्तार होता जा रहा है।

—डॉ० श्रीप्रसाद
—डॉ० बिसम्भरनाथ

संसार महानाटचशाला

— बालकृष्ण भट्ट

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंचमहाभूत की बनी यह विस्तृत नाटचशाला उस चतुरशिरोमणि, सकल गुण आगर, नटनागर, महानट, अनोखे खिलवाड़ी सूत्रधार के खिलवाड़ की ऐसी रंगभूमि है जिसमें दृश्य-अदृश्य रूप से भासमान हो वह दर्शकों की दृष्टि से मायामयी यवनिका के भीतर छिप अपने महाविराट् वैभव के अनेक ऐसे अभिनय किया करता है जिससे शृंगार, वीर, करुण आदि नवों रस बारी-बारी से स्थायी और संचारी होते हुए तमाशबीनों को अद्भुत तमाशे दिखलाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महासूत्रधार की सहचारिणी नर्तकी इस नाटचशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम-रूप में विचित्र वेषधारी जीव-समूह सब उस बड़े नटनागर की नाटचलीला के सहायक सहकारी नट हैं। इस अद्भुत नाटचशाला का अभिनय रातों-दिन, हर घड़ी, प्रतिपल, प्रतिनिमेष अविच्छिन्न रूप से हुआ करता है—कोई खास घंटा या मिनट मुकर्रर नहीं है कि इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाटचशाला का दरवाजा खुलेगा। न फीस का कोई नियम है कि अमुक-अमुक तमाशबीनों से इस-इस दरजे की फीस ली जायगी। उस बड़े नटनागर ने सबों को अपना अभिनय देखने की आज्ञा दे रखी है। उसकी नजर में कोई छोटा या बड़ा हई नहीं है। उसका प्राणिमात्र पर एक भाव और सबों के साथ एक-सा बर्ताव है।

बाबा वह दरबार हमारा, हिन्दू मुसलमान से न्यारा।
जहाँ जनेऊ सुनत न होई, पंडित मुल्ला बसै न कोई॥

समस्त जीवराशि का निरन्तर कोलाहल इस नाटचशाला का संगीत है। एक ओर जयध्वनिपूरित हर्ष-निस्वन, दूसरी ओर क्लेश और

करुणा से भरी हुई रोने की आवाज तथा जीवराशि रूपी अद्‌भुत यन्त्र के अनोखे तान दर्शकों के मन में एक ही क्षण हर्ष और शोक मिला हुआ अनिर्वचनीय भाव पैदा करते हैं। सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, सरित्-समुद्र, अभ्रंलिह अत्युच्च शिखर वाले हिमधवलित पर्वत इत्यादि कारण-सामग्री लाखों वर्ष की पुरानी हो जाने पर भी उनके द्वारा जो अभिनय दिखलाये जाते हैं वे सब नये और टटके से टटके होते हैं। अचिन्त्य चातुर्य-समन्वित, विराट् मूर्तिमय यह सम्पूर्ण जगत् देख, देखने वाले के मन में रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत आदि रस एक साथ स्थान पाते हैं और उस 'पुरुष पुरातन', 'महाकवि' की महिमा का विस्तार प्रतिपद में प्रकट करते हैं।

अब अन्तर उस बड़े नट के नाटक और हम लोगों के नाटक में यह है कि हम लोग इन दृश्यकाव्य नाटक में असल को नकल कर दिखलाते हैं और वह अपने नाटक में जो कुछ नकल कर रहा है वह माया-यवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है। देखने वालों के चित्त में उसकी भाँति भाँति की नकल का यहाँ तक सच्चा असर होता है कि वे विवश हो झूठ को सच मान तदाकार हो जाते हैं और उसके अचिन्त्य दिव्य रूप को जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा, ऊँचे से ऊँचा, दूर से दूर, समीप से समीप है, सर्वथा भूल जाते हैं तथा उसे और का और समझ गोते खाया करते हैं और निन्यानबे के फेर में पड़ इस चक्कर के बाहर कभी होते ही नहीं। माया की फाँसी से जकड़े हुए हम लोग उससे अपने को अलग मान अपनी भलाई और तरक्की की अनेक चेष्टा करते हैं किन्तु किसी अदृष्ट दैवीशक्ति से प्रेरित हो जो चाहते हैं वह नहीं होता।

'अपना चेता होत नहिं प्रभुचेता तत्काल।'

जिसका कभी सपने में भी ख्याल नहीं किया जाता वह आ पड़ता है। हमें पात्र बनाय जिस अभिनय को उसने हमारे द्वारा कराना आरम्भ किया था वह यदि पूरा उतर आया तो हम फूले नहीं समाते और

भाग्यवानों की श्रेणी में अपना अव्वल दरजा कायम कर लेते हैं। सर्वथा स्वच्छन्द निरंकुश हो उस छिपी दैवी शक्ति पर जरा भी ध्यान न दे 'हम सब भाँति समर्थ हैं' यही समझने लगते हैं। बड़े-बड़े शूरवीर योधा सम्राट चक्रवर्ती जिनकी एक बार की भृकुटी-विक्षेप में भूडोल आ जाने की सम्भावना है उनके भी हम महाप्रभु हैं, राम, युधिष्ठिर तथा सिकन्दर और दारा प्रभृति विजेता जगद्विजयी हमारे आगे किस गिनती में हैं, उशना और वाचस्पति की तो हमारा वाग्वैभव देख शरम आती है, चतुरानन भी अपनी चतुराई भूल अचरज में आप हक्का-बक्का बन बैठता है, हम सब भाँति सिद्ध हैं, पूर्णकाम हैं, न हमारे सदृश किसी ने यज्ञ किया होगा, न हम-सा दानी कोई दूसरा है, आज हमने एक मुल्क फतेह किया, कल दूसरा अपने वश में कर लेंगे, अपने विपक्षी शत्रुओं को बीन-बीन कर खा डालेंगे, एक को भी जीता न छोड़ेंगे, अटक से कटक तक हमारी पताका फहरा रही है, संसार की कोई जाति या फिरके नहीं बचे जिनके बीच यदि हमारा नाम लिया जाय तो वे थर्रा न उठते हों, हम सभ्यता की चरम सीमा को पहुँचे हैं, किसको इतनी हिम्मत या ताकत है जो हमारी बराबरी कर सके, तुम जित हो हम विजेता हैं, हम तुम्हारे स्वामी, प्रभविष्णु हैं, हम जो करेंगे या सोचेंगे सब तुम्हारी भलाई के लिए करेंगे और सोचेंगे, हम जो कानून गढ़ दें वही तुम्हारे लिए ठीक व्यवस्था है, तुम हमारे वशंवद हो इसलिए हम जो कहें वह तुम्हें करना ही पड़ेगा, हमारा खान, हमारा मान, हमारी रहन-सहन सबमें हमारे समान बनो। देखो, सम्हले रहो, कहीं किसी बात में अपना-पन न आने पावे, तुम्हें जब हम किसी बात में अपनापन जाहिर करते देखते हैं, हमारा जी कुढ़ जाता है, जो कुछ तुम्हारी भलाई भी कभी किसी तरह हो सकती उसे भी हम रोक देते हैं। हम नहीं चाहते कि ऐसी बात का अंकुर भी रह जाय जिसमें तुम जोर पकड़ हमारी बरा-बरी करने लगो इत्यादि भाव हमारे मन में, उस समय उठने लगते हैं

जब उस छिपी शक्ति की प्रेरणा से हम कृतकार्य और सफलमनोरथ हो जाते हैं।

वहीं यदि अपनी कर्त्तव्यता में हम कृतकार्य न हुए और जो अभिनय वह हमसे करा रहा है वह पूरा न उतरा तो हम उदास, विषण्णवदन अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं, उस समय जिन्दगी हमें फीकी मालूम पड़ती है, बल्कि महाशोकग्रस्त हो ऐसे समय हम लोग जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। इस तरह इस संसार-नाटचशाला में उस महापुरुष के अनेक खेल हैं जिन्हें वह क्रीड़ा-विलसित के समान सर्वथा स्वच्छन्द हो, जब जैसा चाहता है वैसा अभिनय करता है।

जीवन में साहित्य का स्थान

—प्रेमचन्द

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं, लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा के अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज में लगा रहता है। किसी को वह रत्न-द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पुरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनन्द, इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को दर्शाना, वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है, पर साहित्य से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, बीभत्स में भी कोई आनन्द है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता? बीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना बीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, बीभत्स की पराकाष्ठा

है, लेकिन वह बीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गन्दे नालों के अन्दर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों दूर भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध ? अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृंगार-विहीन और असुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है, लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव रहें जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध विचार से है, प्रयोजन का सम्बन्ध स्वार्थ-बुद्धि से। आनन्द का सम्बन्ध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा

ही होता है। एक ही दृश्य, घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसन्धान की और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथक्ता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान् विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गयी है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महान् पुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उसमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनोय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्सन्देह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जाएँगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँट कर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम

तुम्हारे कान पकड़ कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ है उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्म-विकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोल कर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते उसी भाँति जैसे दुलार-चुमकार कर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी मार ले जाता है। यही कारण है कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन को वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु हैं। बौद्धों को जातक कथाएँ, तोरैत, कुरान, इंजील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रहमात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा है। उन कथाओं को निकाल दीजिए तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानव-जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं। लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं. चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे, पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद में ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बान्धवों से अपने को इतना निकट पाते हैं, इसलिए कि हम उनके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से विचार सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी 'हारमोनी' प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता

है, पर उसके रुदन में व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग उसे पढ़ कर मुग्ध हो जाते हैं। "सच्चा साहित्य कभी पुरातन नहीं होता"। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि-कवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त काल तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। "साहित्य ही सच्चा इतिहास है," क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है वैसा किसी इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंशों की प्रगति का नाम है और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव चरित्र को बदल लेना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह असम्भव है कि करुणा और दया तथा

प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दय मनुष्य और कौन हो सकता है ? हमारा आशय दिल्ली में कत्ले-आम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्ले-आम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्ले-आम को बन्द करने का हुक्म दिया था ? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह शान्त नहीं होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँह लगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रख कर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

कसे न माँद कि दीगर बतेगे नाज़ कुशी।
मगर कि जिन्दा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी॥

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है, पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कत्ले-आम तुरन्त बन्द करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़ कर नेपोलियन के सामने लाये और पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी

नौका पर इंग्लैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव-तुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगा कर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। यूरोप का साहित्य उठा लीजिए, आप वहाँ संघर्ष पाएँगे। कहीं खूनी कांडों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थपरायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ़ सौ साल से अधिक नहीं, पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है। पर इसके बदले उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह ठीक रास्ता नहीं है, पर वह इतनी दूर जा चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदारशक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। यूरोप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीद कर, कम्पनियों में हिस्से लेकर और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है।

भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढल कर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते, पर एक धन्वन्तरि के होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर पर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अन्धाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे विना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम यह समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है, पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। इसमें जो युवक साहित्य को अपने

जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्मसंयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को महान् पद के लिए तैयार कर रहे हैं, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफी नहीं, चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्यसेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

भारतीय संस्कृति

—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

कोई विदेशी जो भारत से बिल्कुल अपरिचित हो, एक छोर से दूसरे छोर तक सफर करे तो उसको इस देश में इतनी विभिन्नताएँ देखने में आएँगी कि वह कह उठेगा कि यह एक देश नहीं, बल्कि कई देशों का एक समूह है, जो एक दूसरे से बहुत बातों में और विशेष करके ऐसी बातों में, जो आसानी से आँखों के सामने आती हैं, बिलकुल भिन्न हैं। प्राकृतिक विभिन्नताएँ भी इतनी और इतने प्रकारों की और इतनी गहरी नजर आएँगी जो किसी भी एक महाद्वीप के अन्दर ही नजर आ सकती हैं। हिमालय की वर्फों से ढकी पहाड़ियाँ एक छोर पर मिलेंगी और जैसे-जैसे वह दक्षिण की ओर बढ़ेगा, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र से प्लावित समतलों को छोड़कर फिर विन्ध्य, अरावली, सतपुड़ा, सह्याद्रि, नीलगिरि की श्रेणियों के बीच समतल रंग-बिरंगे हिस्से देखने में आएँगे। पश्चिम से पूरब तक जाने में भी उसे इसी प्रकार की विभिन्नताएँ देखने को मिलेंगी। हिमालय की सर्दी के साथ-साथ जो साल में कभी भी मनुष्य को गर्म कपड़ों से और आग से छुटकारा नहीं देती, समतल प्रान्तों की जलती हुई लू और कन्याकुमारी का वह सुखद मौसम जिसमें न कभी सर्दी होती है और न गर्मी, देखने को मिलेगा। अगर असम की पहाड़ियों में वर्ष में तीन सौ इञ्च वर्षा मिलेगी तो जैसलमेर की तप्त भूमि भी मिलेगी जहाँ साल में दो-चार इञ्च भी वर्षा नहीं होती। कोई ऐसा अन्न नहीं जो यहाँ उत्पन्न न किया जाता हो। कोई ऐसा फल नहीं जो यहाँ पैदा न किया जा सके। कोई ऐसा खनिज पदार्थ नहीं जो यहाँ के भूगर्भ में न पाया जाता हो और कोई ऐसा वृक्ष अथवा जानवर नहीं जो यहाँ के फैले हुए जंगलों में न मिले। यदि इस सिद्धान्त को देखना हो

कि आबहवा का असर इन्सान के रहन सहन, खान-पान, वेश-भूषा और शरीर तथा मस्तिष्क पर कैसा पड़ता है तो उसका जीता जागता सबूत भारत में बसने वाले भिन्न भिन्न प्रान्तों के लोग देते हैं। इसी तरह मुख्य-मुख्य भाषाएँ भी कई प्रचलित हैं और बोलियों की तो कोई गिनती ही नहीं; क्योंकि यहाँ एक कहावत मशहूर है—

'कोस-कोस पर बदले पानी चार कोस पर बानी।'

भिन्न-भिन्न धर्मों के मानने वाले भी जो सारी दुनिया के सभी देशों में बसे हुए हैं, यहाँ भी थोड़ी-बहुत संख्या में पाये जाते हैं और जिस तरह यहाँ की बोलियों की गिनती नहीं, उसी तरह यहाँ भिन्न-भिन्न धर्मों के सम्प्रदायों की गिनती आसान नहीं। इन विभिन्नताओं को देखकर अगर अपरिचित आदमी घबराकर कह उठे कि यह एक देश नहीं, अनेक देशों का एक समूह है; यह एक जाति नहीं, अनेक जातियों का समूह है; तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि ऊपर से देखने वाले को, जो गहराई में नहीं जाता, विभिन्नता ही देखने में आयेगी। पर विचार करके देखा जाय तो इन विभिन्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता फैली हुई है जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरो लेती है और पिरोकर एक सुन्दर समूह बना देती है, जैसे रेशमी धागा भिन्न-भिन्न प्रकार की और विभिन्न रंगों की सुन्दर मणियों अथवा फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसकी प्रत्येक मणि या फूल दूसरों से न तो अलग है और न हो सकता है और केवल अपनी सुन्दरता से लोगों को मोहता ही नहीं है, बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और उसी तरह अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। यह केवल एक काव्य की भावना नहीं है बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य है जो हमारे बरसों से अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए अनेकानेक जल-प्रपातों का और प्रवाहों का संगम-स्थल बनकर एक प्रकाण्ड और प्रगाढ़ समुद्र के रूप में भारत में व्याप्त

है जिसे भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। इन अलग-अलग नदियों के उद्गम भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और रहे हैं। इनकी धाराएँ भी अलग-अलग वही हैं और प्रदेश के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न और फल फूल पैदा करती हैं, पर सबमें एक ही शुद्ध, सुन्दर, स्वस्थ और शीतल जल बहता रहता है जो उद्गम और संगम में एक ही हो जाता है।

यह एक नैतिक और आध्यात्मिक स्रोत है जो अनन्तकाल से प्रत्यक्ष रूप से इस सारे देश में वहता रहा है और कभी-कभी मूर्त्त-रूप होकर हमारे सामने आता रहा है। यह हमारा सौभाग्य रहा है कि हमने ऐसे ही एक मूर्त्त रूप को अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-रोते भी देखा है और जिसने अमरतत्त्व की याद दिलाकर हमारी सूखी हड्डियों में नई मज्जा डाल हमारे मृतप्राय शरीर में नये प्राण फूँके और मुर्झाये हुए दिलों को फिर खिला दिया। वह अमरतत्त्व सत्य और अहिंसा का है जो केवल इसी देश के लिए नहीं, आज मानव-मात्र के जीवन के लिए आवश्यक हो गया है। हम इस देश में प्रजातन्त्र की स्थापना कर चुके हैं; जिसका अर्थ है व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता, जिसमें वह अपना पूरा विकास कर सके और साथ ही सामूहिक और सामाजिक एकता भी। व्यक्ति और समाज के बीच में विरोध का आभास होता है। व्यक्ति अपनी उन्नति और विकास चाहता है और यदि एक की उन्नति और विकास दूसरे की उन्नति और विकास में बाधक हो तो संघर्ष पैदा होता है और यह संघर्ष तभी दूर हो सकता है जब सबके विकास के पथ अहिंसा के हों। हमारी सारी संस्कृति का मूलाधार इसी अहिंसा-तत्त्व पर स्थापित रहा है। जहाँ-जहाँ हमारे नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन आया है, अहिंसा को ही उनमें मुख्य स्थान दिया गया है। अहिंसा का दूसरा नाम या दूसरा रूप त्याग है और हिंसा का दूसरा रूप या दूसरा नाम स्वार्थ; जो बहुत करके भोग के रूप में हमारे सामने आता है।

पर हमारी सत्यता ने तो भोग भी त्याग से ही निकाला है और भोग भी त्याग में ही पाया है। श्रुति कहती है— **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**— इसी के द्वारा हम व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के विरोध, व्यक्ति और समाज के बीच के विरोध, समाज और समाज के बीच के विरोध, देश और देश के बीच के विरोध को मिटाना चाहते हैं। हमारी सारी नैतिक चेतना इसी तत्त्व से ओत-प्रोत है। इसलिए हमने भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को स्वच्छन्दतापूर्वक अपने-अपने रास्ते बहने दिया। भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को स्वतन्त्रतापूर्वक पनपने और पसरने दिया। भिन्न-भिन्न भाषाओं को विकसित और प्रस्फुटित होने दिया। भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को अपने अभिन्न भाव से मिल जाने दिया। भिन्न भिन्न देशों की संस्कृतियों को अपने में मिलाया और अपने को उनमें मिलने दिया और देश और विदेश में एकसूत्रता तलवार के जोर से नहीं, बल्कि प्रेम और सौहार्द से स्थापित की। दूसरों के हाथों और पैरों पर, घर और सम्पत्ति पर जबर्दस्ती कब्जा नहीं किया; उनके हृदयों को जीता और इसी वजह से प्रभुत्व, जो चरित्र और चेतना का प्रभुत्व है, आज भी बहुत अंशों में कायम है। अब हम स्वयं उस चेतना को बहुत अंशों में भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं।

●

अपूर्ण

—सियारामशरण गुप्त

बसन्त का आगमन अभी हाल में ही हुआ है। बहुत-सी बातों के कारण घर में उसको दो घड़ी बात कर लेने का समय नहीं मिलता। इसके लिए वन और खेत का एकान्त चाहिए। इसी कारण आज का काम कल करने की मूर्खतापूर्ण बात सोच कर भी आज सन्ध्या समय कुछ जल्दी घूमने के लिए बाहर निकल आया हूँ।

वृक्षों में नई-नई कोपलें आ गयी हैं। आम ने बौर कर अपने भीतर की खटाई और कसैलेपन को भी मधुर कर दिया है। नये जीवन की उष्णता पाकर हवा भी कुछ और की और हो गयी है। कदाचित् कोयल भी कूकने लगी है, परन्तु अभी तक मैं उसे सुन नहीं सका। सुन कैसे सकूँ, पहले-पहल किसी कवि-सखा के कान में ही वह अपना अमृत ढालेगी।

कुछ हो, किसी तरह कवि बनने की इच्छा तो आज मेरी भी है कम से कम काम मैं कवि का ही कर रहा हूँ। पक्की सड़क की मोटी 'लीक' छोड़ कर घूमने के लिए मैं खेतों की ओर मुड़ गया हूँ। मैंने यह विचार नहीं किया कि यह रास्ता ऊँचा-नीचा, चौड़ा-सँकरा, टेढ़ा-मेढ़ा, जहाँ-तहाँ झाड़-झंखाड़ और काँटों से भरा होने के कारण मुझ जैसे जन के चलने योग्य नहीं है।

साँझ के मटमैलेपन के ऊपर सप्तमी के अर्द्धचन्द्र का प्रकाश स्पष्ट हो उठा। स्पष्ट उतना ही जितना यह है। सोचा था, खेतों की हरियाली से ही मैं आज अपने को तृप्त करूँगा, चाँदनी का रस लेने के लिए मुझे पूर्णिमा की प्रतीक्षा करनी होगी। परन्तु मेरा मन अब यह कुछ

नहीं सुनना चाहता। एकाएक भीतर के भीतर तक वह पुलकित हो उठा है। पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया है।

यह पूरा विकसित नहीं है तो क्या हुआ, इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है। अधूरे और अधखिले में भी अपना कुछ स्वाद है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिन नववयस्कों की रचना और दन्तपंक्ति में बुढ़ापे का कोट नहीं लग गया, इन्हें कच्चे आम में भी पके रसाल की अपेक्षा अधिक रस मिलता है। इस विषय में मेरा निजी अनुभव भी ऐसा ही है। बहुत पहले इन्हीं दिनों एक बार मैंने लगातार तीन-चार महीने खटिया पर रोग का सेवन किया था। लेटे-लेटे उस समय मैं प्रायः यही प्रश्न किया करता था कि मेरे अच्छे होने तक अमियों की फसल तो रहेगी? मेरे सिरहाने बैठ कर इस सम्बन्ध में अन्यथा आश्वस्त करके भी जिसने मुझे उस समय प्रसन्न कर रखा था, उसे साक्षी के रूप में पाठक के सामने उपस्थित कर सकने में आज मैं असमर्थ हूँ। फिर भी उस आनन्द की स्मृति चिरस्मरणीय होकर मेरे साथ है। उस समय मुझमें रसबोध नहीं था, यह मैं स्वीकार नहीं करना चाहता। आनन्द देवता के उदार हाथों से जब जो मिले, उसी से सन्तुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है। नहीं तो हम में और सिर फोड़ कर धरना देने वाले मँगतों में अन्तर ही क्या रहा है? इस अर्द्धचन्द्र का पूरा-का-पूरा वैभव छीन कर, हमने इसे कल के लिए कंगाल नहीं कर दिया, इससे बढ़ कर दूसरा आनन्द हमारे लिए हो नहीं सकता। वर्ष के प्रारम्भ में ही न जाने कब से मधुमास हमें आधा ही मिलता आ रहा है कदाचित् ऐसा इसीलिए कि उसके मधु भण्डार की अक्षयता में हमारा विश्वास बना रहे। और, इस प्रकार हमारा यह वर्ष ऊपर से नीचे तक पूरा का पूरा मधुमिश्रित हो गया है, इसका कहना ही क्या?

आश्चर्य की बात है कि इतने सुन्दर इस अर्द्धचन्द्र की उपेक्षा

हमारे कवियों नें क्यों की ? मुझे याद नहीं पड़ता कि इसे देख कर उन्होंने कभी अपना उल्लास प्रकट किया हो। कहने को कहते वे यही हैं कि 'सब उधरे सोहें कवि आखर•••' इत्यादि। चाहते तो इस सूची में वे इस प्रेयस् चन्द्र को भी शामिल कर सकते थे। परन्तु न जाने वे क्यों इसे पूरा ही देखना चाहते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपना सिद्धान्त वदल देना पड़े। वे जानते हैं कि इस वास्तविक जगत् में 'नित प्रति पूनों ही' नहीं रह सकती। पूनों का संगीत सुनने के लिए तीस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस तीसवें दिन भी राहु-केतु, बिजली और बादल की कड़क आदि न जाने कितनी-कितनी बाधाएँ हैं। हालत उनकी, उनके कहने के ही अनुसार ऐसी है कि बस अब या तब। फिर भी न तो उनकी प्रेयसी पूरे चन्द्रमा को देखे बिना अधीर हो सकती है और न वे स्वयं भी आँसू वरसा सकते हैं। कवियों की देखा देखी हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परन्तु इस अधूरे के लिए तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा। जो हो, कवि और समालोचक को देखने का समय आज मुझे नहीं है। आज मैं इस अर्द्ध-चन्द्र का आनन्द नहीं छोड़ना चाहता। कवीर ने उपदेश किया है कि जो कल करना चाहते हो, उसे आज करो, और आज के करने का जो काम है उसे अभी, इसी समय। तुरन्त दान, महाकल्यान। इस संसार में प्रत्येक पल प्रलयशील है, उसका बनना-बिगड़ना हम किसी भी क्षण देख सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि पूनों के चन्द्र को देखने के लिए चौबीस घंटे के कितने ही दिन-रात आँखें मूँद कर बैठा रहूँ। मैं बैठा रहना चाहूँ, तब भी यह बात होने की नहीं दिखाई देती। फिर भी किसी कवि अथवा समालोचक के कहने से मैं आज का आनन्द अन्य कितने ही कलों के लिए क्यों छोड़ दूँ ? आज के आनन्द का उपयोग आज करूँगा, और कल-परसों का क्रम बीच में ही भंग नहीं हो गया

तो मैंने कुछ ऐसो शपथ नहीं ले रखी है कि फिर मैं आँखें खोलूंगा हो नहीं।

मैं समझता हूँ, सप्तमी नहीं, तो वसन्त की द्वादशी ही वह होगी, जिस दिन वाल्मीकि ने करुणा के खारी जल से अपनी दोनों आँखों का कीच धोकर पहले पहल रामचन्द्र का दर्शन किया। इस अवतार में भगवान् की द्वादश ही कलाएँ हैं न ? मैं मान लेता हूँ, द्वादश नहीं और कम थीं। परन्तु क्या कभो मैं यह भी मान ले सकता हूँ कि उनकी यह अपूर्णता अग्राह्य है ? इस अपूर्णता को लेकर आज के इस घोर युग में भी हम सतयुग के, अच्छा, सतयुग नहीं तो त्रेता के, उस साकेत-धाम में विहार करने लगते हैं, जिसे बड़े से वड़ा पुरातत्वदर्शी बाहर से झाँक कर देख तक नहीं सकता। कुछ क्यों न हों, आज मैं किसी के भो बहकावे में किसी तरह नहीं पड़ना चाहता।

(अच्छा हाँ, कृष्णचन्द्र षोडश-कलावतार थे। यह ठीक है। ऐसा होने पर भी, किन्तु, यह भुला देना ठीक नहीं है कि इस पूर्ण चन्द्र के साथ कृष्ण जुड़ा हुआ है, शुक्ल नहीं। महत्व वही है, जहाँ अन्धकार में प्रकाश हो। विधाता ने केवल अन्धकार अथवा केवल प्रकाश की ही सृष्टि की होती तो उसकी बहुमुखी प्रतिभा का मूल्य बहुत निम्नकोटि के कलाकार जितना भी न रहता)

ज्ञान अथवा अज्ञान के विषय में भो यही बात है। मन्त्रद्रष्टा-ऋषि 'नेति-नेति' कह कर जब आगे का अपना अज्ञान स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं, तभी यह बात हमारे मन में जगती है कि कहीं ज्ञान है तो यहाँ, केवल इनके पास। परम ज्ञानियों और महात्माओं की सेवा और सत्संग में रह कर भी मनुष्य को शान्ति मिलती होगो, परन्तु उस आनन्द की तुलना दूसरी जगह नहीं पायी जा सकती, जिसे कोई अबोध शिशु अनायास एक घड़ो के भीतर दे देता है। हमारे साहित्य के सूर्य और चन्द्र का अनुभव भी इस विषय में ऐसा ही है। ज्ञान के प्रवीण उद्धव को

बात इनमें से एक ने सुन तो ली, परन्तु मन उनका वहीं लगा है, जहाँ उनका उपास्य बाल रूप में—

'शोभित कर नवनीत लिये,
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।'

दूसरे घर-बार त्यागी साधु का हाल भी ऐसा ही है—

'घुँघराली लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की।।

बात यह है कि ऊपर से मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न प्रतीत होता रहे, उसका भीतरी मन जानता है कि वस्तुतः एक अस्फुट शिशु से ज्ञान में वह किसी भी भाँति अधिक नहीं। इसी से जब उनकी मण्डली में वह पहुँच जाय, तब मानो समवयस्कों की शैली और संगति पाकर उसका भीतर-बाहर एकदम खिल पड़ता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि ऐसा बालगोपाल तो उसे अपने घर में ही मिल सकता था। इसके लिए हाथ में कमण्डलु लेकर और शरीर में भभूत रमा कर इतना भटकने की आवश्यकता उसे न थी। आज यह अपूर्ण, यह अवि-कच मुझे अनायास मिल गया है। आगे आने वाले किसी पूर्ण की लालसा में आज का यह आनन्द छोड़ देने की मूर्खता नहीं करूँगा।

मेरे ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर सप्तमी के चन्द्र की यह चाँदनी छिटकी पड़ी है। ऊपर से नीचे तक हलके बसन्ती रंग की होली खेलकर इसने मुझे सराबोर कर दिया। मेरे चारों ओर गेहूँ, चना, अलसी और सरसों के हरे-हरे खेत हैं। पक कर अभी पूरे नहीं हुए, इससे ये भी मेरे मन के साथ ठीक मेल खा जाते हैं। सन्ध्या समय वायु के हिलकोरों के साथ जो शोभा इनकी थी, इस धुँधली चाँदनी में अब वह दिखाई नहीं पड़ती। फिर भी इसके लिए मुझे शिकायत नहीं है। यहाँ मैंने बहुत-कुछ देख-सुन लिया। अपरिहार्य होकर मेरे भीतर जो अस्पष्टता, जो

अवगुण, जो त्रुटि, जो अपूर्णता निवास कर रही है, उसके लिए, आज मैं अपने को धिक्कारूँगा नहीं। वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के छोटे-छोटे बच्चे यहाँ एक-दूसरे से हिलमिल कर खेल रहे हैं। बसन्त का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट-पोट होकर गिर-गिर पड़ते हैं एक-दूसरे के ऊपर। एक-दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक-दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी कुछ ऐसा ही है। इस धुँधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एकरस देख कर मैंने भरत-मिलाप का नया दृश्य देख लिया। एक ही माँ के दो यमज लालों की भाँति ये एक-दूसरे को भेंटते हुए छाती-से-छाती मिलाकर आपस में मिल गये हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अन्धकार, इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इनमें दोनों सहोदरों का चिरन्तन द्वन्द्व मिट चुका है, दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं, अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।

वसन्त का कोई सन्देश सुनने के लिए मैं घर से निकला था। कह नहीं सकता, कितना उसने अपने में छिपा रखा और कितना मुझे दिया। कुछ हो, जितना मुझे मिल गया है, वह भी मेरे लिए कम नहीं।

३

हाथ झारि कै चले जुआरी

—डॉ० गुलाबराय

लोग कहते हैं कि 'बीतो ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेहि'। किन्तु मैं जान-बूझकर कुछ नहीं भूलना चाहता हूँ। उपकारों को भूल जाना तो कृतघ्नता है, अपकारों को भी मैं भूलता नहीं किन्तु क्षमा अवश्य कर देता हूँ। (Forget and Forgive) 'भूल जाओ और क्षमा करो' की उक्ति उन कमजोर लोगों की है, जो सहज में क्षमा नहीं कर सकते।

वैसे तो शास्त्रकारों को आज्ञा है कि अपने ठगे जाने और अपमान को प्रकाशित नहीं करना चाहिए। किन्तु मैं कलाकार, कला का पारखी अवश्य हूँ; इस नाते कलाकार की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

मैं कई बार ठगा गया हूँ, किन्तु एक बार के ठगे जाने की बात को ठग को कलात्मकता एवं मनोवैज्ञानिकता के कारण भूल नहीं सकता और उसी कारण उसका प्रकाशन करना मैं नीति-विरुद्ध नहीं समझता, वरन्, उसका प्रकाशनं न करना कलाकार के प्रति अन्याय कहूँगा। मैं अपने को वहुत विद्वान् नहीं समझता तो मूर्ख भी नहीं मानता। इसलिए कलाकार की कला का महत्व बढ़ जाता है।

इस प्रकार की घटना दूसरों के साथ भी हो चुकी है, यह मुझे पीछे से मालूम हुआ। शायद अखबारों में भी छपी होगो; किन्तु ठगी के शिकार को जबानी न कही गई होगी। वह किसो अन्य पुरुष की सुनी-सुनाई बात होगो। अदालतों में सुनो हुई बात की गवाही (Hearsay Evidence) का नाम नहीं होता। यहाँ तो चश्मदीद गवाह ही नहीं हूँ स्वयं भुक्तभोगी हूँ और बकलम खुद लिख रहा हूँ।

उन ठगों की कहानी मैंने सुनी थी जिन्होंने एक आदमी को यह विश्वास दिलाया कि उसके कन्धे पर रखी हुई भेड़ कुत्ता है और उसने भी उसे कुत्ता समझ कर स्वयं को भार-मुक्त कर दिया। परन्तु मैं उस बात पर सहसा विश्वास नहीं करता था। जब से मेरे साथ ऐसी घटना घटी है तब से मुझे विश्वास हो गया है कि दुनिया में अविश्वास करने योग्य कोई बात नहीं।

मैंने भूमिका में आपके धैर्य की काफी परीक्षा ले ली। आपकी उत्सुकता जागृत कर उस बात को न सुनाना पाप होगा। यह लम्बी भूमिका इसलिए बाँधी थी कि जितनी देर अपनी मूर्खता के प्रकाशन से बच जाऊँ उतना ही अच्छा है। मैंने इस मूर्खता को कृपण के धन की भाँति सुरक्षित रखा था। उसको सुनाने में उतना ही समय लग रहा है जितना कि लोगों को पैसा देने में। अब सुनिये।

शायद सन्' ४३ की बात है। मैं दिल्ली गया हुआ था। लोग कहा करते कि दिल्ली दूर है, किन्तु मेरे लिए वह नजदीक है, क्योंकि मैं खास दिल्ली के दरवाजे पर ही तो रहता हूँ। दिल्ली में कुतुब रोड के पास एक रेल का पुल है। उसके कुछ इधर ही एक अपेक्षाकृत कम चालू निर्जन-सा मार्ग है। मैं नये बाजार के पास लाहौरी दरवाजे से आ रहा था कुतुब रोड जाने के लिए; क्योंकि वहीं से बिड़ला मन्दिर के लिए ताँगे मिलते हैं। उन दिनों मैं बिड़ला मन्दिर के पास समरू रोड के क्वार्टरों में ठहरा करता था।

पैसे बचाने के लिए तो इतना नहीं (मेरे पास रेजगारी भी नहीं थी) किन्तु ट्राम की भीड़ से बचने के लिए मैं पैदल ही चलना पसन्द करता हूँ। मैं धीरे-धीरे शनैश्चर की गति से जा रहा था कि लाहौरी गेट के पास ही एक आदमी मिला और उसने बड़े निरपेक्ष भाव से कहा—'बाबूजी आपने सुना ! एक हवाई जहाज टूटकर गिर पड़ा है।

आप नहीं जा रहे हैं वहाँ ?' मैंने भी उपेक्षा भाव से कह दिया—'नहीं, मुझे जल्दी घर जाना है।' वह आदमी चला गया। आगे चलकर एक आदमी और मिला। वह कुछ तीव्र गति से जा रहा था और कहता गया—'आइये, जहाज देखना हो तो जल्दी आइए।' उसकी बात भी मैंने सुनी-अनसुनी कर दी। जब मैं उस रास्ते के बिलकुल निकट आ गया तो एक तीसरे आदमी ने कहा—'आप नहीं जा रहे हैं ? सब लोग जा रहे हैं।' और मुझे उस ओर तीव्र गति से पाँच या सात आदमी जाते दिखाई दिये। उनको देख मुझे विश्वास हो गया कि वास्तव में कुछ बात है।

हवाई जहाज तो मैंने चील की तरह मँडराते हुए बहुत देखे थे और अब भी देखता हूँ। आगरे में तो अड्डा ही है। हवाई जहाज खड़ा हुआ भी देखा है, किन्तु टूटा हुआ हवाई जहाज नहीं देखा था। साठ वर्ष की उम्र तक आदमी बालक ही बना रहता है। उसके बाद सांसारिक वस्तुओं से उदासीनता आती हो तो आती हो। खैर, इन लगातार के औत्सुक्यवर्धक प्रश्नों ने बाल-कौतूहल पर शान चढ़ा दी। मैंने उससे पूछा—'कितनी दूर है ?' उसने कहा—'यही तो कोई पचास कदम पर।' मैं उसके साथ हो लिया। मालूम नहीं कि वह अपनी दिव्यदृष्टि से यह जान गया था कि मैं दार्शनिक हूँ। अतः उसने रास्ते में दार्शनिक वार्तालाप प्रारम्भ कर दिया। 'बाबूजी, कोई नहीं जानता कि पल भर में क्या होनेवाला है (मैं भी नहीं जानता था कि मेरे साथ क्या होगा), बेचारे क्या सोचकर उड़े होंगे ? रास्ते ही में मारे गए। उनके घर के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? देखिये खुदा की कुदरत ! क्या का क्या हो गया ?'

मेरी भी गति कुछ तीव्र हो गई थी। उसी के साथ उत्सुकता भी। जब हम लोग राजपथ से कुछ दूर आ गये तो दूसरी ओर से कुछ लोग लौटते से दिखाई दिये। उसने उन लोगों से पूछा—'जहाज देख आये ?'

उनमें से एक ने कहा—'उस जहाज को एक जहाज उड़ाकर ले गया।' मेरे साथी ने कहा—'इन अंग्रेजों के इन्तजाम गजब के हैं! जहाज को गिरते देर न लगी कि उसको उठवा लिया। वे लोग अपने मरे हुए आदमी को भी पब्लिक को दिखाना नहीं चाहते। खैर लौट चलिये।'

मैं भी समय के खराब होने से मन में पछताता-सा लौटा। इतने में एक और आदमी ताश का तमाशा करता हुआ दिखाई दिया। मेरे साथी ने कहा—'आइये जरा देर इसी को देख लीजिये।' मैंने कहा कि—'भाई ताश का मैं शौकीन नहीं हूँ।'

वह आदमी साहित्यिक नहीं था, नहीं तो उसे इस सम्बन्ध में लिखी इकलौती कविता सुना देता। उसको कविता सुनाना 'भैंस के आगे बीन बजाना' होता। बीन का शौकीन तो साँप होता है। खैर, मैं आपको साँप नहीं बनाता हूँ। फिर भी मेरी कविता सुन लीजिए। दो-चार मिनट और मैं अपनी बेवकूफी के उद्घाटन से बच जाऊँ तो अच्छा है। हाँ सुनिये—

> तास छुए नहीं हाथन सों, सतरंजहु में नहीं बुद्धि लगाई।
> टेनिस गेम सुहाय नहीं, फुटबालहुं पै नहिं लात जमाई॥
> कैरम मर्म न जानहूँ क्रीकट, कन्दुक देखत देत दुहाई।
> जीवन के सुख पाये न रंचक, लेखन में निज समै (जीवन) गमाई॥

उसने कहा—'खेल न देखिये, तो न सही; दो-चार रुपये की रेजगारी ही लेते जाइए।' दिल्ली में रेजगारी की बड़ी तकलीफ रहती है। (उन दिनों रेजगारी का वास्तविक अभाव था) रेजगारी के मोह को मैं संवरण न कर सका। 'परो अपावन ठौर में कञ्चन तजे न कोय।' उन दिनों रेजगारी का पा जाना पड़े हुए धन के समान ही था। मैं उधर को मुड़ दिया।

देखा तो एक आदमी ताशवाले से पाँच रुपये ले रहा था और दूसरा उसे बधाई दे रहा था। भाई मेरी तकदीर सिकन्दर निकली।

मेरे साथी ने कहा, 'बाबूजी' को रेजगारी दो। कितने की है? उसने कहा, 'कुल तीन रुपये की।'

दूसरा आदमी रेजगारी गिनने लगा। मैंने बटुए से दस रुपये का नोट निकाला और एक आदमी ने कहा कि सात रुपये आप भी दाँव पर लगा दीजिए। दाँव सिर्फ इतना ही था कि एक खास पत्ता जो वह पहले से दिखा देता था बिछे हुए पत्तों में से उठा लेना। मैंने कहा, 'नहीं भाई! मैंने आज तक जुआ नहीं खेला।'

मेरे साथी ने कहा—'यह जुआ नहीं है। अक्ल का खेल है।' फिर उसने ताशवाले से कहा—'पत्ते बिछाओ, बाबूजी की तरफ से मैं उठाऊँगा, मैं जिम्मेदार हूँ।'

उसने पत्ते उठाये पर वह पत्ता नहीं था। तीन की रेजगारी देकर मेरा दस का नोट हड़प लिया गया। ताशवाले ने बड़े दैन्य भाव से कहा—'सवेरे से खो रहा हूँ अब मेरे मुकद्दर ने भी जोर मारा है।'

मैं ठगी की उस दुनिया में न्याय किससे कराता? मैंने साथी से कहा—'तुमने जिम्मेदारी ली थी। मेरे रुपये दो।' 'बाबू साहब, अबकी दाँव चूक गया। लेकिन आइये मेरे साथ। अब की बार ऐसी तरकीब बताता हूँ कि सोलह आना आपकी बाजी रहेगी। सात गए दस दिलवाऊँगा।'

उसने मुझे एक तरफ ले जाकर जेब से एक पेनसिल निकाली और ताश की पीठ पर एक गुणा का निशान बना दिया। तीन के लाभ का लालच न था, सात वापिस लौटने का जरूर मोह था। मैंने उससे कह दिया—'तीन रुपये तेरे हैं।' मुझमें जुआरी की मनोवृत्ति आ गई। इस बार उसने कहा—'फिर आप मुझे दोष देंगे। पत्ता आप ही उठाइये।' पत्ते को हाथ लगाने से पूर्व ताशवाले ने बड़ी ईमानदारी के साथ कह

दिया—'यदि आपके पास रुपये हों तो हाथ लगाइये। नहीं तो किसी दूसरे को उठाने दीजिये।' मैं फिर भी न चेता, पत्ता मैंने उठाया। उस पर गुणा का निशान अवश्य था, किन्तु वह पत्ता नहीं था। मैं हाथ मलता रह गया। मेरे साथी ने बड़ी निराशा की मुद्रा धारण कर कहा—'बाबूजी, आपने जो खोए सो खोए मेरे भी तीन खोए।'

इस बार मैं किसको दोष देता और किससे फर्याद करता ? सत्रह रुपये खोकर अनुभव मोल लिया। तीन रुपये आगरे लौटने के लिए काफी थे। मैंने दिल्ली में किसी से यह हाल नहीं कहा। हारे जुआरी की भाँति घर लौटा। एक लाभ अवश्य हुआ—कबीर की नीचे की पंक्ति का भाव एक सजीव चित्र के साथ समझ में आ गया। कल इस पंक्ति को पढ़ते ही यह घटना याद आ गई थी—

"कहै 'कबीर' अन्त की बारी, हाथ झारि कै चले जुआरी।"

●

नाखून क्यों बढ़ते हैं ?

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देने वाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिन तक अगर उन्हें बढ़ने दें, तो माँ-बाप अक्सर उन्हें डाँटा करते हैं। पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ा करते हैं। काट दीजिए, तो वे चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लेंगे, पर निर्लज्ज अपराधी की भाँति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर। आखिर ये इतने बेहया क्यों हैं ?

कुछ लाख वर्षों की बात है, जब मनुष्य था, बनमानुष जैसा। उसे नाखून की जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षा के लिए नाखून बहुत जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखून के बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों उसे जूझना पड़ता था, प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिए आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। पत्थर के ढेले और पेड़ों की डालें काम में लाने लगा (रामचन्द्र जी की बानरी सेना के पास ऐसे ही अस्त्र थे)। उसने हड्डियों के भी हथियार बनाये। इन हड्डी के हथियारों में सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओं के राजा का वज्र, जो दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातु के हथियार बनाये। जिनके पास लोहे के शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओं के राजा तक को मनुष्यों के राजा से इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्यों

के राजा के पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्याएँ थीं, पर लोहे के अस्त्र नहीं थे, शायद घोड़े भी नहीं थे। आर्यों के पास ये दोनों चीजें थीं। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी गति से बढ़ता गया। नाग हारे, सुपर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहे के अस्त्रों ने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते वाली बन्दूकों ने, कारतूसों ने, तोपों ने, बमों ने, बम-वर्षक वायुयानों ने इतिहास को किस कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम-बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा है। पर उसके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी प्रकृति मनुष्य को उसके भीतर वाले अस्त्र से वंचित नहीं कर रही है, अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नख-दन्तावलम्बी जीव हो—पशुओं के साथ एक ही सतह पर विचरने वाले और चरने वाले।

ततः किम्। हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चों को नाखून न काटने के लिए डाटता है। किसी दिन—कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व—वह अपने बच्चों को नाखून नष्ट करने पर डाटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखून को जिलाये जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज बढ़ते हैं, क्योंकि वे अन्धे हैं, नहीं जानते कि मनुष्य को इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है। मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखून को नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युग का कोई अवशेष रह जाय, यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ, नाखून काटने से क्या होता है? मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है, वह तो बढ़ती ही जा रही है। मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकाण्ड बार बार थोड़े ही हुआ है। यह तो उसका नवीनतम रूप है। मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी

भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदों के लिए उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जम के सँवारता था। उनके काटने की कला काफी मनोरंजक बतायी गयी है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियों के नाखून उन दिनों विलासी नागरिकों के न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़ कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़ देश के लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य लोग छोटे नखों को। अपनी-अपनी रुचि है, देश की भी और काल की भी। लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों को और नीचे खींचने वाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बनाया है यह बात चाहूँ तो भी भूल नहीं सकता।

मानव-शरीर का अध्ययन करने वाले प्राणि-विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव-चित्त की भाँति मानव-शरीर में भी बहुत-सी अभ्यास-जन्य सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं। दीर्घकाल तक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीर ने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तियाँ अनायास ही और शरीर के अनजान में भी, अपने-आप काम करती हैं, नाखून का बढ़ना उनमें से एक है, केश का बढ़ना दूसरा है, दाँत का दुबारा उठना तीसरा है, पलकों का गिरना चौथा है। असल में सहजात वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियों को ही कहते हैं। हमारी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीर को, मन की और वाक् को अनायास घटने वाली वृत्तियों के विषय में विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचानने में बहुत सहायता

मिले। पर कौन सोचता है ? सोचता तो क्या उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख वढ़ा लेने की जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्व का प्रमाण है। इन्हें काटने की जो प्रवृत्ति है, वह उसकी मनुष्यता की निशानी है और यद्यपि पशुत्व के चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्व को छोड़ चुका है। पशु वन कर वह आगे नहीं वढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र वढ़ाने की प्रवृत्ति मनुष्यता की विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है—किस ओर ? मनुष्य किस ओर वढ़ रहा है ? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर ? अस्त्र वढ़ाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर। मेरी निर्वोध वालिका ने मानों मनुष्य जाति से ही प्रश्न किया है—जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं ? यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ—जानते हो, यह अस्त्र-शस्त्र क्यों वढ़ रहे हैं—ये हमारी पशुता की निशानी हैं। भारतीय भाषाओं में प्रायः ही अंगरेजी के 'इंडिपेंडेन्स' शव्द का समानार्थक शव्द नहीं व्यवहृत होता। १५ अगस्त को जव अंगरेजी भाषा के पत्र 'इंडिपेंडेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र स्वाधीनता दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इंडिपेंडेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शव्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अंगरेजी में कहना हो, तो सेल्फडिपेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि इतने दिनों तक अंगरेजी की अनुवर्तिता करने के वाद भी भारतवर्ष 'इंडिपेंडेन्स' को 'अनधीनता' क्यों नहीं कह सका ? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता—उन सवमें 'स्व' का वन्धन अवश्य रखा। यह क्या संयोग की वात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है ? मुझे प्राणि-विज्ञानी की बात फिर याद आती है—सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियों का ही नाम है। स्वराज्य

होने के बाद स्वभावत: ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सब सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावों और नाना पहलुओं से विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, जो रातों-रात अनजान जंगल में पहुँचा कर अरक्षित छोड़ दिये गये हों। हमारी परम्परा महिमामयी; उत्तराधिकार विपुल और संस्कार उज्ज्वल हैं। हमारे अनजान में भी ये बातें हमें एक खास दिशा में सोचने की प्रेरणा देती हैं। यह जरूर है कि परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। उपकरण नये हो गये हैं और उलझनों की मात्रा भी बहुत बढ़ गयी है, पर मूल समस्याएँ बहुत अधिक नहीं बदली हैं। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूप में न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है। वह 'स्व' के बन्धन को आसानी से नहीं छोड़ सकता है। अपने-आप पर अपने-आप के द्वारा लगाया हुआ बन्धन हमारी संस्कृति की बड़ी भारी विशेषता है। मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ हमारा पुराना है, जो कुछ विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुराने का 'मोह' सब समय वांछनीय ही नहीं होता। मरे बच्चे को गोद में दबाये रहने वाली 'बंदरिया' मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धिता के नशे में चूर होकर अपना सरबस खो दें। कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे नहीं होते, सब नये खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जाँच कर लेते हैं, जो हितकर होता है उसे ग्रहण करतेहैं, और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। सो, हमें परीक्षा करके हितकर बात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्व संचित भाण्डार में वह हितकर वस्तु निकल आवे, तो इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है ?

जातियाँ इस देश में अनेक आयी हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक वस भी गयी हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुख करके चलनेवाली इन जातियों के लिए एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी। पर एक वात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। 'वह है अपने ही वन्धनों से अपने को वाँधना'। मनुष्य पशु से किस वात में भिन्न है। आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के सुख दु ख के प्रति समवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्य के उद्भावित बन्धन हैं। इसीलिए मनुष्य झगड़े-टंटे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है, और वचन, मन और शरीर से किये गये असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी भी जाति या वर्ण समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्यमात्र का धर्म है। महाभारत में इसलिए निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध को सब वर्णों का सामान्य धर्म कहा है—

> एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
> निर्वैरता महाराज सत्यमक्रोध एव च॥

अन्यत्र इसमें निरन्तर दानशीलता को भी गिनाया गया है (अनुशासन १२०.१०)। गौतम ने ठीक कहा था कि मनुष्य को मनुष्यता यही है कि वह सबके दुःख-सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित वन्धन हो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्म का मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन

मुझे नाखून बढ़ने पर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेने को कमर कसे है।

मनुष्य को सुख कैसे मिलेगा ? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओं की कमी है, और मशीन बैठाओ और उत्पादन बढ़ाओ, और धन की वृद्धि करो और बाह्य उपकरणों की ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा था। उसने कहा था—बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, मिथ्या को हटाओ, क्रोध और द्वेष को दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो, आराम की बात मत सोचो, प्रेम की बात सोचो, आत्म-तोषण की बात सोचो, काम करने की बात सोचो। उसने कहा—प्रेम ही बड़ी चीज है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृङ्खलता पशु की प्रवृत्ति है, 'स्व' का बन्धन मनुष्य का स्वभाव है। बूढ़े की बात अच्छी लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गयी। आदमी के नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ—बूढ़े ने कितनी गहराई में पैठ कर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता का पता लगाया था।

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जब कि मनुष्य के नाखूनों का बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणिशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि मनुष्य का अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड़ गयी है। उस दिन मनुष्य की पशुता भी लुप्त हो जायगी। शायद उस दिन वह मारणास्त्रों का प्रयोग भी बन्द कर देगा। तब तक इस बात से छोटे बच्चों को परिचित करा देना वांछनीय जान पड़ता है कि नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों को बढ़ने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्य में जो

घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तप से प्राप्त वस्तुएँ मनुष्य की महिमा को सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। मनुष्य मारणास्त्रों के संचयन में, बाह्य उपकरणों के बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडम्बर के साथ सफ़लता नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से देने में है। नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अन्य सहजात वृत्ति का परिणाम है, जो उनके जीवन में सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्व'-निर्धारित आत्म-बंधन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।

कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

मैं क्यों लिखता हूँ ?

—अज्ञेय

मैं क्यों लिखता हूँ ? यह प्रश्न बड़ा सरल जान पड़ता है, पर बड़ा कठिन भी है। क्योंकि इसका सच्चा उत्तर लेखक के आन्तरिक जीवन के कई स्तरों से सम्बन्ध रखता है और उन सबको संक्षेप में कुछ वाक्यों में बाँध देना आसान तो नहीं ही है, न जाने सम्भव भी है या नहीं। इतना ही किया जा सकता है कि उनमें से कुछ का स्पर्श किया जाय—विशेष रूप से ऐसों का जिन्हें जानना दूसरों के लिए उपयोगी हो सकता है।

एक उत्तर तो यह है ही कि मैं इसीलिए लिखता हूँ कि स्वयं जानना चाहता हूँ कि क्यों लिखता हूँ—लिखे बिना इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता है। वास्तव में सच्चा उत्तर यही है। लिखकर ही लेखक उस आभ्यन्तर विवशता को पहचानता है जिसके कारण उसने लिखा—और लिखकर ही वह उससे मुक्त हो जाता है। मैं भी उस आन्तरिक विवशता से मुक्ति पाने के लिए, तटस्थ होकर उसे देखने और पहचान लेने के लिए लिखता हूँ। मेरा विश्वास है कि सभी कृतिकार—क्योंकि सभी लेखक कृतिकार नहीं होते; न उनका सब लेखन ही कृति होता है—सभी कृतिकार इसीलिए लिखते हैं। यह ठीक है कि कुछ ख्याति मिल जाने के बाद कुछ बाहर की विवशता के कारण भी लिखा जाता है—सम्पादकों के आग्रह से, प्रकाशक के तकाजे से, आर्थिक आवश्यकता से। पर एक तो कृतिकार हमेशा अपने सम्मुख ईमानदारी से यह भेद बनाये रखता है कि कौन-सी कृति भीतरी प्रेरणा का फल है, कौन-सा लेखन बाहरी दबाव का, दूसरे यह भी होता है कि बाहर का दबाव वास्तव

में दबाव नहीं रहता, वह मानो भीतरी उन्मेष का निमित्त बन जाता है। यहाँ पर कृतिकार के स्वभाव और आत्मानुशासन का महत्व बहुत होता है। कुछ ऐसे आलसी जीव होते हैं कि बिना इस बाहरी दबाव के लिख ही नहीं पाते—इसी के सहारे उनके भीतर की विवशता स्पष्ट होती है—यह कुछ वैसा ही है जैसे प्रातःकाल नींद खुल जाने पर कोई बिछौने पर तब तक पड़ा रहे जब तक कि घड़ी का एलार्म न बज जाय। इसप्रकार वास्तव में कृतिकार बाहर के दबाव के प्रति समर्पित नहीं हो जाता है, उसे केवल एक सहायक यन्त्र की तरह काम में लाता है जिससे भौतिक यथार्थ के साथ उसका सम्बन्ध बना रहे। मुझे इस सहारे की जरूरत नहीं पड़ती, लेकिन कभी उससे बाधा भी नहीं होती। उठने वाली तुलना को बनाये रखूँ तो कहूँ कि सबेरे उठ जाता हूँ अपने आप ही, पर अलार्म भी बज जाय तो कोई हानि नहीं मानता।

यह भीतरी विवशता क्या होती है ? इसे बखानना बड़ा कठिन है। क्या वह नहीं होती यह बताना शायद कम कठिन होता है। या उसका उदाहरण दिया जा सकता है—कदाचित् वही अधिक उपयोगी होगा। अपनी एक कविता की कुछ चर्चा करूँ जिससे मेरी बात स्पष्ट हो जायगी।

मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ, मेरी नियमित शिक्षा उसी विषय में हुई। अणु क्या होता है, कैसे हम रेडियम-धर्मी तत्त्वों का अध्ययन करते हुए विज्ञान की उस सीढ़ी तक पहुँचे जहाँ अणु का भेदन सम्भव हुआ, रेडियम-धर्मिता के क्या प्रभाव होते हैं—इन सबका पुस्तकीय या सैद्धान्तिक ज्ञान तो मुझे था। फिर जब वह हिरोशिमा में अणु-बम गिरा, तब उनके समाचार मैंने पढ़े, और उसके परवर्ती प्रभावों का भी विवरण पढ़ता रहा। इस प्रकार उसके प्रभावों का ऐतिहासिक प्रमाण भी सामने आ गया। विज्ञान के इस दुरुपयोग के प्रति बुद्धि का विद्रोह स्वाभाविक था, मैंने लेख आदि में कुछ लिखा भी। पर अनुभूति के स्तर पर जो

विवशता होती है वह बौद्धिक पकड़ से आगे की बात है, और उसकी तर्कसंगति भी अपनी अलग होती है। इसलिए कविता मैंने इस विषय में नहीं लिखी। यों युद्धकाल में भारत की पूर्वीय सीमा पर देखा था कि कैसे सैनिक ब्रह्मपुत्र में बम फेंक कर हजारों मछलियाँ मार देते थे। जब कि उन्हें आवश्यकता थोड़ी-सी होती थी, और जीव के इस अपव्यय से जो व्यथा भीतर उमड़ी थी उससे एक सीमा तक अणु-बम द्वारा व्यर्थ जीव-नाश का अनुभव तो कर ही सका था।

पिछले वर्ष जापान जाने का अवसर मिला, तब हिरोशिमा भी गया और वह अस्पताल भी देखा जहाँ रेडियम-पदार्थ से आहत लोग वर्षों से कष्ट पा रहे थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ—पर अनुभव से अनुभूति गहरी चीज है, कम-से-कम कृतिकार के लिए। अनुभव तो घटित का होता है, पर अनुभूति संवेदना और कल्पना के सहारे उस सत्य को आत्मसात् कर लेती है जो वास्तव में कृतिकार के साथ घटित नहीं हुआ है। जो आँखों के सामने नहीं आया, जो घटित के अनुभव में नहीं आया, वही आत्मा के सामने ज्वलन्त प्रकाश में आ जाता है, तब वह अनुभूति-प्रत्यक्ष हो जाता है।[1]

तो हिरोशिमा में सब देखकर भी तत्काल कुछ लिखा नहीं, क्योंकि इसी अनुभूति-प्रत्यक्ष की कसर थी। फिर एक दिन वहीं सड़क पर घूमते हुए देखा कि एक जले हुए पत्थर पर एक लम्बी उजली छाया है—विस्फोट के समय कोई वहाँ खड़ा रहा होगा और विस्फोट से बिखरे हुए रेडियम-धर्मी पदार्थ की किरणें उसमें रुद्ध हो गयी होंगी—जो आस-पास से आगे बढ़ गयीं उन्होंने पत्थर को झुलसा दिया, जो उस व्यक्ति

---

१. इसकी एक प्रक्रिया 'इन्द्रधनु रौंदे हुए थे' संग्रह की 'इतिहास की हवा' नामक कविता में है। उसकी रचना-प्रक्रिया भी यहाँ कही गयी बातों की पुष्टि ही करेगी।

पर अटकीं उन्होंने उसे भाप बनाकर उड़ा दिया होगा। इस प्रकार समूची ट्रेजडी जैसे पत्थर पर लिखो गयी—

उस छाया को देखकर जैसे एक थप्पड़-सा लगा। अवाक् इतिहास जैसे भीतर कहीं सहसा एक जलते हुए सूर्य-सा उग आया और डूब गया। मैं कहूँ कि उस क्षण में अणु-विस्फोट मेरे अनुभूति-प्रत्यक्ष में आ गया—एक अर्थ में मैं स्वयं हिरोशिमा के विस्फोट का भोक्ता बन गया।

इसी में से वह विवशता जागी। भीतर की आकुलता बुद्धि के क्षेत्र से बढ़ कर संवेदना के क्षेत्र में आ गयो…फिर धीरे-धीरे मैं उससे अपने को अलग कर सका, और अचानक एक दिन मैंने हिरोशिमा पर कविता लिखी[१]—जापान में नहीं, भारत लौटकर, रेल-गाड़ी में बैठे-बैठे।

वह कविता अच्छी है या बुरी; इससे मुझे मतलब नहीं है। मेरे निकट वह सच है, क्योंकि वह अनुभूति-प्रसूत है, यही मेरे निकट महत्व की बात है। मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात् करता है तब मानो वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओं का मनोनीत हो जाता है और काव्य-कृति ही उसका आत्म बलिदान है, जिसके द्वारा वह देवताओं से उऋण हो जाता है। यही देवता से उऋण होने की छटपटाहट वह विवशता है जो लिखाती है—फिर वह ऋण-परिशोध तत्काल हो जाय या वर्षों बाद—यह दूसरी बात है। इस क्रिया पर भी मैंने एक कविता लिखी है : स्वाति की बूंद सीपी का मर्म वेध जाती है, फिर वर्षों में मोती पकता है…. [२]

---

१. 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में 'हिरोशिमा' शीर्षक कविता।
२. 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में 'सर्जना के क्षण'।

मैंने सिल पहुँचायी

—विद्यानिवास मिश्र

घटना बहुत छोटी सी है। इधर इलाहाबाद जाने का सुयोग कई बार हुआ और होता ही जा रहा है। मेरे एक मित्र ने काम सौंपा—इलाहाबाद में बुआ जी ने शंकरगढ़ी सिल छोड़ी है, इसके अलावा उनका ट्रंक है, कुछ और छिटपुट सामान है, लेते आइएगा। मित्र ऐसे हैं कि उनकी बात टाल नहीं सकता, सो हामी भर दी। पर एक बार तो ऐसा हुआ कि मुझे लखनऊ जाना था, और समय न मिल सका कि सिल लेता स्टेशन जाऊँ और लम्बे रास्ते से सिल गोरखपुर पहुँचाऊँ। मित्र को निराशा हुई। सिल गृहस्थी की नम्बर एक की जरूरतों में आती है। गोरखपुर में सिल मनमाफिक मिलती नहीं है। सो बुआ जी आस लगाये बैठी थीं और मुझे बड़ा अफसोस हुआ कि मैं इस जरूरत को अहमियत नहीं समझ सका। फिर दस-बारह दिनों बाद जाना हुआ तो मैं संकल्प करके गया कि सिल लाकर रहूँगा और मैं इस खेप में सिल लाकर ही रहा। स्टेशन से सीधे सिल पहुँचाने गया। सिल मुलायम तोशक में लपेटी हुई थी, लोढ़ा अटैची में विराजमान था—तो पता चला मैंने देर कर दी, सिल खरीदी जा चुकी है, तो भी धन्यवाद, बड़ा कष्ट किया आदि-आदि। घर आया तो सोचा कि सिल पहुँचाने का यह अद्वितीय अनुभव भी व्यर्थता की चुभन दिये बिना न रहा। मैं कई सालों से किस्म-किस्म के पार्सल ढो रहा हूँ, किसी की तस्वीर, किसी की वाणी के टेप, किसी की किताबें, किसी के कपड़े, किसी का डिशरेक, किसी का चूल्हा, किसी की केशर, किसी की कलम और किसी की छुरी पहुँचाता रहा हूँ। हर बार पहुँचाने में देर हुई है, कुछ प्रमाद से और

कुछ विवशता से। एकाध सामान तो मेरे सामानों के साथ गायब भी हुआ। पहुँचा भी नहीं पाया। पर उस वाहक-व्यापार की चरम परिणति होने को थी इस सिल पहुँचाने में और यह भी देर से हुआ। हाय री किस्मत !

सोचता हूँ तो लगता है कि जाने कितनी शंकरगढ़ी सिलें रखी हैं, पहुँचाने को। जाने कितनी बूढ़ी गृहणियाँ अपने मैके की सिल पहुँचाने की आस लगाये हुए हैं। जाने कितनी यात्राएँ हो चुकीं और कितनी बार होने को हैं, मैं सिल ठीक तरह से पहुँचा नहीं पा रहा हूँ। भर्तृहरिवाली सिल की बात छोड़ दीजिए, वह तो गले में बाँध ही रखी है (मुझे भवसागर में डूबने-उतराने की कोई खास परेशानी नहीं है), पर देखता हूँ सरकारी नौकरी दो दो बार की, तब भी यही सिल सिर पर सवार थी। सरकारी छिनहरों (पत्थर छिनने वालों) की छेनी से छिन-छिन कर योजना की सिल तैयार होती थी, मेरा काम था उसे पहुँचाना अधबूढ़ी जनता के पास। मैं जानता था कि यह सिल शंकरगढ़ की नहीं है, लाल किले की है, पर लोकगीतों की हल्की कोटिंग करके और शंकरगढ़ नाम खुदवा कर मैंने शंकरगढ़ बना लिया था। मुझे विश्वास दिलाना था कि इस सिल पर ही पीठी पिसेगी (कचौड़ी के लिए या इडली के लिए) और इस सिल की ही पूजा करके नयी वहू घर में प्रवेश पायेगी। यह सिल आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सुख समृद्धि की आधारशिला है। इसकी छिनावट पाँच वर्ष तक बनी रहती है, छिनाने में पैसा कुछ ज्यादा जरूर लगता है पर लालकिले के छिनहर और छिनहरियों के हाथ बड़े सधे हैं, छेनियाँ बड़ी पोख्ता हैं, उनका काम बड़ा पक्का होता है। सिल पहुँचाने के लिए बड़ा भारी महकमा मुझे मिला था और गाते-बजाते, हँसते-खेलते यह काम करना था। बड़ी रेशमी और मुलायम गुलगुली तोश की परतों में सिल लपेटी जाती थी, एक-से-एक मांगलिक अल्पनाओं से, एक-से-एक मनहर रंगों

से और एक-से-एक चहकदार धुनों से उसका आवरण-संस्कार सम्पन्न होता था। पर हर बार लोढ़ा वड़े जतन से पैडों में सुरक्षित करके अटैचो में रखने का निर्देश था। लोढ़ा शासन का प्रतीक है। बिना लोढ़े के (परिछन) स्पर्श के कोई गृहिणी नामक शक्ति (या सरकार) नहीं पाता। लोढ़ा का फूटना घर के मालिक के लिए अशुभ है। इसलिए लोढ़ा बड़े जतन से रखने का विधान है, विशेष करके यह देव-दुर्लभ लोढ़ा, जो विन्ध्यपर्वत की नहीं, धौला गिरि को उस चट्टान से वना है, जिस पर प्रियदर्शी देवानाम् प्रिय अशोक की चौदहों धर्मलिपियाँ खुदी हैं, जिस पर नये युगसत्य को छेनी तौल-तौल कर पड़ी है। यह लोढ़ा प्रतीक है नयो शक्ति का, जिसके रक्षक हैं सत्यनारायण (सत्य-नारायण व्रतकथा वाले) इसलिए बड़ा वजनी है, हर आदमी इससे कुछ पोसना चाहे तो नहीं पोस सकता, उसको उँगलियाँ ही चाहे पिस जायें। इसके पीसने की बाक़ायदा ट्रेनिंग लेनी होती है। पर मैं अनाड़ी आदमी सिल-लोढ़ों का नया दर्शन क्या समझूं, मुझे यह दर्शन बड़ा थोथा जान पड़ा और दर्शन के बोझ से हो इस सिल-लोढ़े को ढोना दूभर हो गया। आधे रास्ते में छोड़ कर भाग आया। या ठीक कहूँ तो मेरी सर्वनाशिनी चित्तवृत्ति भाग आई।

'मृच्छकटिक' नाटक में राजा का साला शकार वसन्तसेना का पीछा करता है, अन्धेरी रात, पियक्कड़ों की भीड़, हाथ को-हाथ नहीं सूझता, वर्षा की रपटन वाली राह, वसन्तसेना निकल नहीं पाती। एकाएक बिजली चमकती है, एक दरवाजा खुला दिखता है, उधर जाने को भागती है, पर चमेली के फूलों की जूड़े की गन्ध और मणि-नूपुरों की आवाज उसके जान की ग्राहक वन जातो है, तव वह विट के संकेत से नूपुर उतारती है, जूड़ा खोल कर चमेलो के फूल मसल कर फेंक देती है और उसके प्राण वचते हैं। कुछ-कुछ लगता है कि मेरो वसन्तसेना ने भी राजश्यालक से जो छुटकारा पाया वह चमेलो की

गन्ध और नूपुरों की कीमत अदा करके ही। जो हो, मादक गन्ध गयी तो क्या, नूपुरों के साथ अपनी लय भी गयी तो क्या, मेरे वसन्त की प्राणवत्ता बची रही, अपने को धन्य मानता था। मैं दाखिल हुआ एक नये द्वार के भीतर, वस्तुतः द्वारहीन द्वार के भीतर। थोड़े ही दिनों में फिर वह सिल माथे आ पड़ी। पता चला कि परीक्षा नाम की एक निस्सन्तान बुढ़िया है, बड़ी मालदार पर बड़ी तेज मिजाज। हर साल वही सिल माँगती है, फिर उसे जहाँ-की-तहाँ रख जाती है, कभी-कभी एकाध नयी छिनाई का निशान भी डाल देती है। हर साल बेचारे अध्यापक को वह सिल अपने शिष्यों के सिर पर लादकर पहूँचानी होती है, लोढ़ा तो स्वयं ही ढोना होता है। बुढ़िया कुछ बूढ़े-अधबूढ़े लोढ़ेबाज ठेके पर रखती है, जो ठोंक-बजा कर बता देते हैं कि सिल वही है या नहीं। पढ़ाने वाले मेरे जैसे तरुण अध्यापक पुरानी अधफूटी सिल की जगह नयी सिल यदि ढोवाते हैं तो बुढ़िया तो कम, ये लोढ़ेबाज लोढ़ा लेकर उसका परिछन करने दौड़ते हैं—तुमने परीक्षा की दृष्टि से पढ़ाया नहीं, परीक्षा पढ़ायी का चरम सत्य है, तुम अभी सीखो सिल की पहचान, उसकी—जो हमारी बुढ़िया मालकिन की है। तब लगा कि सिल पहचानना कितना मुश्किल काम है। मैं तो समझता था कि ज्ञान प्रकाश की भाँति व्यापक है, आकाश की भाँति अनन्त है, पवन की भाँति सदागति है, नदी की तरह प्रवहमान है, धरती की तरह नित नये अंकुरों से अंकुरित, पर वह भी सिल बन सकता है तब तो अब कोई गति नहीं। मैंने सोचा, विश्वविद्यालयों में मुख्य कार्य अध्ययन नहीं, मुख्य कार्य अनुसन्धान है, ज्ञान का अन्वेषण है। लगा कि इसमें जरूर चमत्कार होगा या कम-से-कम मन पर सिल का बोझ तो आठों पहर न रहेगा।

पर सिल ने नया अवतार लिया और पहले से अधिक दुर्वह साबित हुई। रिसर्च की बुढ़िया मालकिन तो इतनी कठकरेजी है कि वह सिल रोज धुलवाती है, हरदी-मसाला अपने घर-खर्च तक के लिए पिसवाती

है, फिर उसे ताख पर रखवाती है और रोज-रोज सामने उटवाती है और बेगार कराती है। इतना सब करने के बाद भी वह मौका आ पड़ने पर कह सकती है कि यह तो जाने किसकी सिल है। यह तो प्रेतशिला को जोगायी हुई मेरी सिल नहीं। बुढ़िया इतनी शातिर है कि खुद नहीं कहती, दूसरे की साखी देती है। इस प्रकार रिसर्च की सिल पहुँचाने का काम बड़े धीरज का काम है, इसे करना तभी शक्य है, जब आप अपनी कुल विरासत फूँक कर दूसरे के दत्तक पुत्र बनें, जब आप सेवा-धर्म में दीक्षित हों, विशेषकर यौवनलोभी वृद्ध संस्कारों के तैलमर्दन की शिक्षा प्राप्त करके आप इस धर्म में दीक्षित हों, जब आप ज्ञान को निरन्तर बाँटते-बाँटते ऐसा बना दें कि लोढ़े के साथ उठ जाय, जब आप अपना अशेष पानी, अशेष धीरज, अशेष प्रतिभा चुका देने के लिए कटिबद्ध हों, और जब आप निखिल अहंता समर्पित करने के लिए आतुर हो जायें। कुछ हँसी-ठट्ठा नहीं है—'सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। रिसर्च की अधिष्टात्री कंकालिनी महाश्मशान की साधिका है, वह पुरानी खोपड़ियों में भूली भटकी मज्जामैरेय-बिन्दुओं की तलाश करवाती है, जिससे उसका यौवन वापस आ जाये, वह नये रक्त का कटोरा भरकर उषःपान करती है कि नया अनुराग मिल जाये, वह प्रतिभा के शव पर बैठकर साधना करना चाहती है कि उसको परमेश्वर का (आजकल की भाषा में बड़े मठ की प्रोफेसरी का) परम पद मिल जाये। इस कंकालिनी के चौंसठ जोगिनी मन्दिर में आकर ही सिल-बट्टे के मोल-भाव का कुछ पता लगता है। कौन कहता है, चैतन्य रूप शिव की साधना है। मायारूपिणी शक्ति की, जिसे पाने का मतलब है, तुम भी माया बनो, दूसरों को फाँसो। यहाँ सिल पहुँचाने का अर्थ है, तुम खुद दूसरे से सिल पहुँचाने का रोजगार सँभालो। यहाँ आकर अपने को ही नहीं, अपने में अमरत्व का जो अंश है, उसे भी शव बनाना सिल-साधना का प्रथम चरण है, सो यह सिल ढो रहा हूँ।

यही क्यों, लगता है, यह पूरी जीवन-यात्रा ही सिल ढोने वाली यात्रा है। गहन अन्धकारमय गह्वर में बैठी पुराणी नियति-देवता जाने का इस दुर्वह के बाद सिल स्वीकार करेगी भी या नहीं। मेरी ही क्यों, लगता है, प्रत्येक चैतन्य से अभिशप्त प्राणी की यही स्थिति है, कम से-कम मेरी पीढ़ी के मेरे सहधर्मी साहित्यकार की स्थिति यही है। मैं तो शायद उतना मौलिक भी नहीं, जितना कि मेरे दूसरे बहुश्रुत मित्र हैं, पर जो सुकृती हैं, उनकी बात करता हूँ। हम लोग यदि भारतीय उपलब्धि को विश्व-उपलब्धि से मिलाकर देखना चाहते हैं तो हमें पश्चिम का क्रीतदास कहा जाता है और यदि हम पश्चिम के जीवन-दर्शन को जनपदी रंग देकर प्रस्तुत करते हैं; तो कितनी विडम्बना है कि लोग हमें धरती का गीतकार कहने लगते हैं। जो लोग परम्परा की सही दृष्टि रखते हैं, वे विद्रोही हैं और जो परम्परा को अपनी वासना की तहों में लपेट कर उससे केवड़े की गन्ध का काम लेते हैं, वे परम्परा के धनीधोरी माने जाते हैं। हमसे आशा की जाती है कि हम 'अपने शरीर और अपने संसार के ऊपर अपना कुल हक छोड़ दें।' हमको विवश किया जाता है कि 'हम अपने सपनों के दाने उस बड़ी चक्की में डाल दें' ताकि वह महीन आटा निकाल दे। दानों का अलग-अलग रहना यांत्रिक सभ्यता को मंजूर नहीं है। हमें साँझ के धुँधलके में कोनों-अँतरों में वह चीज तलाशने के लिए हुक्म मिलता है, जो दिन में हमसे छिपायी जाती है। हमारे जिम्मे बस एक काम है, इस समूहित सम्पिण्डित जड़ता की सिल संवत्सर के चर्खे पर बैठी हुई समयमातृका तक पहुँचाना। इस यात्रा में हमारा मस्तक गल जाये तो गल जाये, पर हमारी सहज गति हमसे छीन ली गयी है, हमारा बाल सुलभ विश्वास हमसे जमानत की रकम के रूप में रखवा लिया गया है, हमारी हर एक मोंजर मसलकर धूलि में मिला दी गयी है (ताकि फल न आने पायें) और हमारे प्राण धुएँ में घोंट दिये गये हैं। और हम हैं कि

अपने को अभी तक 'हम' माने चले जा रहे हैं, सुन्न हो गये हैं, पर 'दुखती रग की तरह यात्रा की चरम परिणति के पार तक धड़कना चाहते हैं', 'पिछली बेंच पर बैठे बच्चों की तरह कुछ समझ में आये न आये, चीखना-चिल्लाना चाहते हैं।' हम जानते हैं, यह धड़कन ही हमारे लिए एकमात्र आश्वासन है, यह आक्रोश एकमात्र सुख। सिल तो सिल, वह लोढ़ा—यह नयी प्रभुता तो और दुर्वह है। वर्णाश्रम धर्म उलट गया है. बचपन में वैराग्य, गृहस्थाश्रम में वानप्रस्थ (सोशल सर्विस) की दीक्षा, वानप्रस्थ में गृहस्थी का मोह और वृद्धावस्था में बचपन बौद्धिक व्यक्ति के हाथ में तेल की शीशी, शक्तिशाली के हाथ में तराजू. रोजगारी के हाथ में दण्ड और दूसरे की बुद्धि पर चलने वाले के हाथ में शासन का विधान, इस विपर्यय के कारण यह लोढ़ा दुर्वह हो गया है।

लोग मुझसे पूछते हैं कि लगता है तुममें उत्साह नहीं। बलिदान का अरमान नहीं। संकटकाल में तुममें भावनात्मक एकता नहीं। मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि बारहवीं सदी के हमवतनों, मैं युद्ध को रंगोनी के रूप में नहीं देख सकता, देश की रक्षा को पिकनिक की तैयारी नहीं मान सकता, झाग में उत्साह नहीं पा सकता, झूठी शेखी को वीरता का पर्याय नहीं कह सकता, छिछली भावुकता को संकल्प की संज्ञा नहीं दे सकता। मैं पराजय की लज्जा जानता हूँ, जयी की विनय जानता हूँ पर सामन्त-युगीन चारण की तरह झूठे प्रोत्साहन, झूठी शपथें, झूठी आशाएँ दिलाना मैंने नहीं सीखा। झूठ का साझेदार मैं इसलिए बनूँ कि यह झूठ मेरे सिर बोझ न बने, इतना कायर नहीं हूँ। मैं इस सिल के साथ झूठ, अपमान और लज्जा भी ढोऊँगा, ढो कर यथास्थान पहुँचाऊँगा। समय-देवता धन्यवाद न दे, कोई चिन्ता नहीं. पर लोढ़े की ताल पर नाचने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता। लोढ़ा कितना भी भारी क्यों न हो, मैं कैसे सिल इसलिए छोड़ दूँ कि लोढ़ा कहता है कि सिर्फ मुझे ढोओ। मुझे ढोना दोनों को है, क्योंकि जानता हूँ कि सिल

की तरह जड़ नहीं बन सकता, लोढ़े की तरह निर्मम नहीं बन सकता। कौन जाने ढोने का यह ताप हो सिल-लोढ़े को चिपका दे, शायद तब उस आग को ढोकर मुझे ढोने का परम फल मिल जाय। पर जब तक आग नहीं छिटकती, साहित्यकार के रूप में इसी बोझ का स्मरण मेरे लिए सबसे बड़ा प्रतिस्मरण है कि मैं सिल ढो रहा हूँ।

शिष्ट-सम्मेलन

—महादेवी वर्मा

भक्तों ने 'तुलसा महारानो नमो नमो' गाया और पंडित जी ने पूजा का विधान समाप्त किया। तव ताँवे के पंचपात्र और आचमनो से गंगा-जल और तुलसी दल बाँटा गया। गंगाजल भक्तमंडली पर छिड़क कर पंडित देवता ने कुछ शुद्ध, कुछ अशुद्ध संस्कृत में गंगा के माहात्म्य का पाठ किया। फिर उच्च स्वर से रामायण का वह अवतरण गाया, जिसमें श्रीराम-जानकी-लक्ष्मण गंगा पार करते हैं। श्रोतागणों में अधिकांश को वह अवतरण कंठस्थ होने के कारण कथावाचक का स्वर अन्य स्वरों की समष्टि में डूब कर अपना वेसुरापन छिपा सका।

तव गौरी-गणेश की वंदना से गीतसम्मेलन आरम्भ हुआ। यह कहना कठिन होगा कि उनमें कौन सुन्दर गाता था, पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि सभी के गीत तन्मयता के संचार में एक से एक प्रभविष्णु थे।

कवोर, सूर, तुलसी जैसे महान् कवियों से लेकर अज्ञातनामा ग्रामोण तुक्कड़ों तक के पद उन्हें स्मरण थे। एक जो कड़ी गाता था उसे सबका समवेत स्वर दोहरा देता था। दबे पाँव तट तक आकर फिर खिलखिलाती हुई-सी लौटने वाली लहरें मानों अविराम ताल दे रहीं थीं।

गायकों में क्रम था और गीतों में गाने वालों की अवस्था के अनुसार विविधता। सवसे पहले दो वुढ़ियों ने गाया, ठकुरो वावा की मौसी ने 'सो ठाढ़े दोउ भइया सुरसरि तीर। यही पार से लखन पुकारें केवट

लाओ सुरसरि तीर।" गाकर बनवासी राम का जो मार्मिक चित्र उपस्थित किया उसी को प्रतिकृति ठकुराइन की 'दखिन दिसा हेरैं भरत सुकारे, आजु अवइया मोरे राम पियारे ! दिवस गिनत मोरी पोरैं खियानी मग जोवत थाके नैंन के तारे' आदि पंक्तियों में मिली। साँस भर आने के कारण रुक-रुक कर गाये हुए गीत मानो हृदय के रस से भींग कर भारी हो गये थे।

पंडिताइन के 'कहन लागे मोहन मइया मइया' में यदि भाव का विस्तार था तो सहुआइन के "चले गये गोकुल से बलबीरा चले गये... बिलखत ग्वाल बिसूरत गौएँ तलफत जमुना नीरा, चले गये" में अभाव की गहराई। "सुनाये विना गुजर न होई" कह-कह कर गवाये हुए काछी काका के, "मन मगन भया तव क्या बोलै" में यदि तन्मयता की सिद्धि थी तो अंधे युवक के, 'सुधि ना विसर मोहि स्याम तुम्हारे दरसन की' में स्मृति की साधना।

ठकुरी वावा ने खाँस-खाँस कर कंठ साफ करने के उपरान्त आँख मूँद कर "खेलै लागे आँगन में कुँवर कन्हैया हो !' गाया।

स्वर, रेखाएँ और रंग भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यह उनकी गीत-लहरी की चित्रमयता से प्रत्यक्ष हो गया।

बूढ़े से वालक तक सबको एक ही स्पंदन, एक ही पुलक और एक ही भाव वाँधे हुए था।

कितनी देर तक उन्होंने क्या क्या गाया यह बताना संभव नहीं, क्योंकि जब अन्तिम आरती ने इस सम्मेलन की समाप्ति की सूचना दी, तव मैं मानों नीद से जागी।

थोड़ी देर में सव बरामदे में अपना अपना बिछौना टीक करके लेट गये, किन्तु मैं अपनी कोठरी में पीतल की दीवट में जलते हुए दीए के सामने बैठ कर कुछ सोचती रह गयी।

सहुआइन ने पहले बाहर से झाँका, फिर एक पैर भीतर रख कर विनीत भाव से जो कहा, उसका आशय था कि अब दीए को विदा कर देना चाहिए। उसकी माँ राह देखती होगी।

हँसी मेरे ओठों तक आकर रुक गयी। जब इनके लिए सब कुछ सजीव हैं तब ये दीपक की माँ और उसकी प्रतीक्षा की कल्पना क्यों न करें। बुझाये देती हूँ, कहने पर भी सहुआइन ने आगे बढ़ कर आँचल की हवा से उसे बुझा दिया। बेचारी को भय था कि मैं शहराती शिष्टाचारहीनता के कारण कहीं फूंक से ही न बुझा बैठूं।

कितनी देर तक मैं अंधकार में बैठ कर सोचती रही यह स्मरण नहीं, पर जब मैं कुटी के बाहर आकर खड़ी हुई तब रात ढल रही थी। निस्तब्धता से भींगी चाँदनी हल्की सफेद रेशमी-चादर की तरह लहरों में सिमटी और बालू में फैली हुई थी।

मेरी पर्णकुटी के दो बरामदे चाँदनी से धुल गए थे। उनमें ठंडी जमीन, चादर, पुआल आदि पर जो सृष्टि सो रही थी उसके बाह्य रूप और हृदय में इतना अंतर क्यों है, यही मैं बार-बार सोच रही थी। उनके हृदय का संस्कार, उनकी स्वाभाविक शिष्टता, उनकी इस विदग्धता, उनकी कर्मठता आदि का क्या इतना कम मूल्य है कि उन्हें जीवन-यापन की साधारण सुविधायें तक भी दुर्लभ हो जावें।

उन मानव-हृदयों में उमड़ते हुए भाव-समुद्र की जो स्पर्श तरंग मुझे छू भर गयी थी उसी की स्मृति मेरे मानस-पट पर न जाने कितने विरोधी चित्र आँकने लगी।

कितने ही विराट् कवि सम्मेलन, कितनी ही अखिल भारतीय कवि-गोष्ठियाँ मेरी स्मृति की धरोहर हैं। मन ने कहा, खोजो तो उनमें कोई इससे मिलता हुआ चित्र और बुद्धि प्रयास में थकने लगी।

सजे हाल, ऊँचे मंच, माला-विभूषित सभापति मेरी स्मृति में उदय

हो आये। इनके इधर-उधर देवदूतों के समान विराजमान कविगण रूप और मूल्य दोनों में अपूर्व थे। कोई फर्स्ट क्लास का किराया लेकर, थर्ड की शोभा बढ़ाता हुआ आया था। कोई अपने कार्यवश पहले ही से उस नगर में उपस्थित था, पर थोड़ा समय वहाँ बिताने के लिए इतनी फीस चाहता था जिसमें आना-जाना और आवश्यक कार्य सम्पन्न होने के उपरान्त भी कुछ बच सके। किसी ने अपने काव्य की महार्घता बढ़ाने के लिए ही अपने गलेबाजी का चौगुना मूल्य निश्चित किया था।

मूल्य से जो महत्ता नहीं व्यक्त हो सकी, वह वेश-भूषा में प्रत्यक्ष थी। किसी के नये सिले सूट की अँगरेजियत, तांबूल राग की स्वदेशी-यता में रंजित होकर निखर उठी थी। किसी का चीनांशुक का लहराता हुआ भारतीय परिधान सिगरेट की धूम-रेखाओं में उलझ कर रहस्यमय हो रहा था। किसी के सिर के खड़े बाल आमामी से संगमूसा के चमकीले फर्श की भ्रांति उत्पन्न करते थे। किसी की सिल्की शैम्पू से धुली सीधी लटों का कृत्रिम कंचन विधाता पर मनुष्य की विजय की घोषणा करता।

कुछ प्राचीनतावादियों की कभी निर्निमेष खुली आँखें और कभी मीलित पलकें प्रकट करती थीं कि काव्यरस में विश्वास न होने के कारण उन्हें विजया से सहायता माँगनी पड़ी है।

इन आश्चर्य-पुत्रों के सामने श्रोता-गणों की जो समष्टि थी वह मानो उनके चमत्कारवाद की परीक्षा लेने के लिए ही एकत्र हुई थी।

कचहरी में गवाहों की पुकार के समान नामों की पुकार होती थी। कवियों में कोई मुस्कराता, कोई लजाता, कोई आत्मविश्वास से छाती फुलाता हुआ आगे जाता। कोई पंचम, कोई षड्ज, कोई गांधार और कोई सब स्वरों के अभाव में एक सानुनासिकता के साथ कलाबाजियों में काव्य को उलझा-उलझा कर श्रोताओं के सामने उपस्थित करता और वाह-वाह के लिए सब ओर गर्दन घुमाता।

उनके इतने करतब पर भी दर्शक चमत्कृत होना नहीं जानते थे। कहीं से आवाज आती—कंठ अच्छा नहीं है। कोई बोल उठता—भाव भी बताते जाइये। किसी ओर से सुनायी पड़ता—बैठ जाइये। कोई धृष्ट श्रोता कवि से किसी उच्छृङ्खल शृंगारमयी रचना को सुनाने की फरमाइश करके महिलाओं की पलकों का झुकना देखता।

कवि भी हार ना मानने की शपथ लेकर बैठते हैं। 'वह नहीं चाहते तो इसे सुनिये, यह मेरी नवीनतम कृति है, ध्यान से सुनिये' आदि-आदि कह कर वे पंडों की तरह पीछे पड़ जाते हैं। दोनों ओर से कोई भी न अपनी हार स्वीकार करने को प्रस्तुत होता है और न दूसरे को हराने का निश्चय बदलना चाहता है।

कभी-कभी आठ-आठ घंटे तक कवायद चलती रहती है। पर इतने दीर्घ समय में ऐसे कुछ क्षण भी निकालना कठिन होगा, जिसमें कवि का भाव श्रोता में अपनी प्रतिध्वनि जगा सका हो। दोनों पक्ष, बाजीगर और तमाशबीन का स्वांग छोड़ कर काव्यानंद में एकत्व प्राप्त कर सके हों। कवि कहेगा ही क्या, यदि उसकी इकाई सबकी इकाई बन कर अनेकता नहीं पा सकी और श्रोता सुनेंगे ही क्या, यदि उन सबकी विभिन्नताएँ कवि में एक नहीं हो सकीं।

जब यह समारोह समाप्त हो जाता है, तब सुनने वाले निराश और सुनाने वाले थके से लौटते हैं। उन पर काव्य का सात्विक प्रभाव कितना कम रहता है, इसे समझाने के लिए उन सम्मेलनों का स्मरण पर्याप्त होगा जिनसे लौटने वालों में कतिपय व्यक्ति संगीत व्यवसायिनियों के गान से मन बहलाने में नहीं हिचकते हैं।

भाव यदि मनुष्य की क्षुद्रता, दुर्भावना और विकृतियाँ नहीं बहा पाता तब वह उसकी दुर्बलता बन जाता है। इसी से स्नेह, करुणा आदि के भाव हृदय की शक्ति बन सकते हैं और द्वेष, क्रोध आदि के दुर्भाव उसे और अधिक दुर्बल स्थिति में छोड़ जाते हैं।

ग्रामोण समाज अपने रस-समुद्र में व्यक्तिगत भेद-बुद्धि और दुर्बलताएँ सहज ही डुबा देता है। इसो से इस भावस्नान के उपरांत वह अधिक स्वस्थ रूप प्राप्त कर सकता है।

हमारे सभ्यता-दर्पित शिष्ट समाज का काव्यानंद छिछला और उसका लक्ष्य सस्ता मनोरंजन मात्र रहता है; इसी से उसमें सम्मिलित होनेवालों को भेद-बुद्धि एक-दूसरे को नोचा दिखलाने के प्रयत्न और वैयक्तिक विषमताएँ और अधिक विस्तार पा लेती हैं। एक वह हिंडोला है, जिसमें ऊँचाई-नोचाई का स्पर्श भो एक आत्मविस्मृति में विश्राम देता है। दूसरा वह दंगल का मैदान है, जिसका सम धरातल भी हार-जोत के दाँव-पेचों के कारण सतर्कता की भ्रांति उत्पन्न करता है।

इन सम्मेलनों की व्यर्थता का मुझे ज्ञान था; पर उनमें छिपी कदर्थना को अनुभूति उसो दिन सुलभ हो सकी। इसके कुछ वर्षों के उपरांत तो वह स्थिति इतनो दुर्वह हो उठो कि मुझे शिष्ट सम्मेलनों से विदा हो लेनो पड़ी।

('स्मृति की रेखाएँ' का एक अंश)

अफसर

—शरद जोशी

नाव में अफसर के साथ बैठने से बेहतर है कि डूब मरिये, क्योंकि जब नाव में सूराख होगा, वह आपसे इसका स्पष्टीकरण माँगेगा। जब नाव हलकोरे लेती इधर-उधर डोलेगी, वह आपको जलती आँखों से घूरेगा और डाँट लगायेगा। और जब वह धीरे-धीरे सधी हुई लहरों पर बहती चली जाएगी तब? तब वह आपका आभारी नहीं होगा। वह अपने को सफल अफसर मानेगा, जिसके योग्य प्रशासन में नाव ठीक चल रही है।

चाँदनी रात है। हवा है। लहर है। चारों तरफ वह अमृत बिखरा है जिसमें रोमांस पनपता है और कविताएँ लिखी जाती हैं। पर नाव में एक अफसर बैठा है। हो सकता है इस संगीतमय वातावरण से वह किसी फाइल का किस्सा छेड़ दे—उस फाइल का जो इस समय मुख्य सचिव के पास है, जिसमें मूलें टॉप अफसर की है और जो कैबिनेट के सामने जाने वाली है।

मन करता है कि नाव से कूद पड़ें, क्योंकि दुनिया की जिन झंझटों से मुक्ति पाने के लिए आप नाव में बैठे थे, वे सब काव्यमय वातावरण में भी ज्यों की त्यों हैं। गलती वास्तव में आपकी है। आप नाव में अफसर के साथ बैठे ही क्यों? अफसर अफसर होता है और वह जितना दफ्तर में अफसर होता है उतना ही नाव में होता है। वह बोर करता है, पर वह इतना सहज बोर है कि बेचारा नहीं जानता कि बोर है। और वह यह भी नहीं जानता कि वह नाव में बैठा है, जब तक आप उसे 'मेमो' न छपा दें कि सर, यह चाँदनी रात है और जो यह ठण्डी हवा चल रही है, भगवान् के बजट में इसका प्रावधान है। और हुजूर,

श्रीमान्, हेड आफिस से आर्डर हुए हैं कि पूनम की रात नाव पर बैठ कर सैर को जाएँ।

लोग सोचते हैं कि अफसर किस मिट्टी का बना है? मिट्टी तो देशी है, सिर्फ साँचा विदेशी है, जिसमें अफसर ढलता है। अफसर ढलकर तैयार होता है या जनम से अफसर होता है, यह वहस का विषय है। यह सच है कि कुछ लोग पैदायशी अफसर होते हैं। अफसरी से रिटायर होने के बाद भी आदमी का अफसरत्व कायम रहता है, जो घर के लोगों को परेशान करता है। वह परम अवस्था जब पत्नी एक न सुलझने वाली चिरपेंडिंग साक्षात् फाइल की तरह नजर आती है और हर बच्चा अपने आपमें एक केस लगता है, जो हमेशा अनुशासन भंग करता है, पर जिसे न 'सस्पेंड' किया जा सकता है और न जिसका 'प्रमोशन' रोका जा सकता है, वे घर को एक दफ्तर की तरह चलाते हैं। और जिस तरह दफ्तर वे कभी ठीक नहीं चला पाए उसी तरह घर भी नहीं चला पाते। जब तक चार सब्जी वालों के मौखिक टेंडर न ले लें, वे कद्दू नहीं खरीदते और जब तक वे 'सैंक्शन' नहीं दें, प्यार नहीं करते।

वर्षों हो गये। कितने अफसर आए और चले गये। कितनी कुर्सियाँ उनके वजन से चरमरा कर टूटीं और फेंक दी गयीं, पर वजन वही रहा। फाइलें उसी तरह वनती और विकसित होती रहीं। अफसर जाता है, पर अफसरी बनी रहती है। एक आत्मा है, जो एक शरीर के रिटायर होने के बाद नया शरीर ग्रहण कर लेती है। अफसर नहीं जाता, वह कायम रहता है। जिस तरह राजा नहीं मरता, उसी तरह अफसर भी नहीं मरता है। वह विद्यमान रहता है। पेड़ उगते हैं और उनसे टेबुल कुर्सी बनते हैं। कागज का कारखाना चलता है। और फाइलें तैयार होती रहती हैं। पता नहीं, जब भोजपत्र पर लिखा जाता था तब फाइलें कैसी होती होंगी। अब उसका सवाल नहीं, क्योंकि कागज की कमी नहीं और अफसरों की कमी नहीं। जैसे-जैसे कागज

बढ़ेंगे, नये 'सेक्शन' खुलेंगे और नित नये अफसर कुर्सी पर यों शोभा देंगे जैसे गमले में पौधा, जो झूमता रहता है, खिलता भी रहता है, पर जड़ से मजबूत होता है, हिलता नहीं। देश का विकास होगा, यानी अफसरों का विकास होगा। एक गड्ढा भी बिना दस्तखत के नहीं खुद सकता, सो ज्यादा से ज्यादा अफसर चाहिए। और वे आएँगे। विकास हो न हो, अफसर आएँगे।

हर नया अफसर अपने में गमक लिये रहता है। जब आता है, चमन में बहार बनकर आता है, और जब जाता है मर्तबान का अचार बनकर जाता है।

कभी अफसर को जाते हुए देखिए। तबादले का दृश्य बड़ा रोचक है। कहा जाता है कि इस मौके पर हम क्या कहें। एक तरफ हमें बड़ा अफसोस है कि वर्मा साहब आज हमारे बीच से जा रहे हैं और दूसरी तरफ हमें खुशी भी है कि शर्मा साहब हमारे बीच आ रहे हैं। बिदाई का भाषण देने वाले के समक्ष धर्मसंकट रहता है। नये अफसर को मक्खन लगाने और जाते हुए के लिए शाब्दिक अफसोस प्रकट करने की मिश्रित अभिव्यक्ति के लिए उसे शब्द नहीं सूझते। कुछ शब्द हैं जो कह दिये जाते हैं और जाता हुआ अफसर सन्तोष कर लेता है। एक प्लेट से चमचा कूद कर दूसरी प्लेट में आ जाता है। नया अफसर यानी सब कुछ नया। यहाँ की टेबल वहाँ और वहाँ की टेबल यहाँ। सफाई, झाड़ू, चुस्त। नये अफसर को क्रोटन पसंद है, सो पुराने अफसर के केक्टस गए भाड़ में। 'पंक्चुअल्टी' पर विशेष जोर। साढ़े दस यानी साढ़े दस। बड़े बाबू की परेड और चपरासी का ओवर टाइम। नया अफसर आया है तो बिगड़ी गाड़ी दुरुस्त होगी। पर यह सारी चुस्ती शुरू के दो माह। बाद में वही ढर्रा। तब तक बड़े बाबू और अफसर में सूत्र जुड़ जाते हैं और दुरुस्त गाड़ी फिर उसी चाल से चलने लगती है जैसे बिगड़ी गाड़ी चलती है।

अफसर के शरीर की कोई रग सरकार के सूत्रों से अलग काम नहीं करती। फाइल, मीटिंग, दौरा, रिपोर्ट, डी० ओ०, रिमाइंडर, मेमो, आर्डर की दुनिया में बँधा वह सहानुभूति का पात्र है। सब कुछ 'रुटीन' है। सुबह सूर्य का उगना 'रुटीन' है और देर रात चाँद का डूबना रुटीन है। आँधी आती है, फाइल हो जाती है। फूल खिलता है, स्टोर में जमा हो जाता है। कुछ अर्जेन्ट होता है, कुछ 'इमीडिएट' होता है। जो यह न होता है, वह भी होता है, बशर्ते बजट में गुंजाइश हो। चार पैसे की मटकी ठोंक-बजाकर ली जाती है। पर मटकी ठोंकने बजाने के सरकारी तरीके अलग ही हैं, जिन्हें अफसर जानता है।

अफसर से दोस्ती नहीं की जा सकती। उससे रिश्ता किया जा सकता है, क्योंकि रिश्ते में नियम होते हैं, दोस्ती में नियम नहीं होते। अफसर के साथ नहीं चल सकते, उसके पीछे चलना होता है। कहावत है—अफसर के सामने और घोड़े के पीछे नहीं आना चाहिए। पुराने जमाने में जब अफसर घोड़े पर बैठकर दौरा करते थे तब पता नहीं लोग क्या करते होंगे, क्योंकि तब आगे रहें या पीछे, हालत बिगड़ने का अन्देशा हरदम बना रहता था। तब किनारा काटकर बगल में रहना ही एक नीति रही।

अफसर डाँटता है। नेता सारे देश को एक साथ डाँटता है और अफसर हर व्यक्ति को अलग-अलग बुलाकर डाँटता है। हम डँटे हुए लोग हैं, जो डाँटने वालों के अधीन सटे हुए काम करते हैं। कुर्सी बनी रहेगी, पर कब खाट खड़ी हो जाएगी, कह नहीं सकते। वह गजटेड है यानी गजट में है और हम गजेट के बाहर हैं, फिर भी फाइल में हैं और फीते से बँधे हैं। फीता हमारी आत्मा पर लिपटा है और लपेटने वाला अफसर सब जगह है। वह 'आन ड्यूटी' शहीद है, फुर्तीला कछुआ है। वह ओखली में सिर रख मूसलों को अनुशासन में रखता है। वह हाँथ-कंगन को बिना आरसी के नहीं देखता और सत्य के प्रमाण माँगता है।

अफसर अफसर है। वह अकेला अफसर है। आपके साथ अफसर है। सुबह अफसर है। शाम अफसर है। वह जीता नहीं, जीवन को 'डोल' करता है; एक निश्चित तरीके से। वह सहज परिभाषित है और अनुमान से परे नहीं। फिर भी जिज्ञासा का केन्द्र है क्योंकि प्रशासन के ब्रह्म में कार्यकारण सम्वन्ध पहचानता है। उसके साथ रह कर क्या कीजिएगा ? वह जहां है, जितना है, मेरी समझ से काफी है। उसे वहीं रहने दें।

अफसर अगर इस किनारे जा रहा है तो आप उस किनारे जाइए, इसी में खैर है।

चाँद के टुकड़े की कविता

—डॉ० श्रीप्रसाद

स्थानीय टाउनहाल का मैदान ! गोल घेरे में घूमती हुई अनन्त पंक्ति—जिज्ञासु लोगों की कभी भी खतम न होने वाली अनन्त पंक्ति !

चाँद का टुकड़ा। चांद्रशैल-खंड ! मून रॉक !

बहुतों ने देखा यह टुकड़ा। बहुत से लोग न भी देख सके होंगे—व्यस्ततावश ! आलस्यवश ! पर जिज्ञासु तो होंगे ही !

मैं चन्द्रखंड—चाँद के उस नन्हें टुकड़े को देखने गया तो गोल वृत्त में, किसी सहज प्रेरणा से घूमती पंक्ति के छोर को ही नहीं पा सका। लोग देखने जा रहे हैं कि देखकर आ रहे हैं, यही ज्ञात नहीं हो पा रहा था।

मैंने पूछा—'पंक्ति कहाँ से शुरू होती है ?'

एक सज्जन ने दूर की तरफ हाथ उठा दिया।

घूमते वृत्त के आवरण को भेद कर बड़ी मुश्किल से मैं पंक्ति के अंतिम छोर पर पहुँचा।

पंक्ति में खड़े होकर मैंने सोचा मैं अंतिम व्यक्ति हूँ। मेरे आगे थी अनंत पंक्ति ! दूर तक अजगर की तरह रेंगती हुई पंक्ति। स्त्रियाँ कभी-कभी आम का छिलका ऐसे उतारती हैं कि समूचे आम का छिलका एक अटूट वृत्त में उतर आता है। वृत्त में वृत्त ! कुछ ऐसी ही पंक्ति थी—पंक्ति में पंक्ति !

जब तक मैं लम्बी पंक्ति आगे देखूँ और यह अहसास करूँ कि मैं पंक्ति का अंतिम व्यक्ति हूँ, मेरे पीछे अनन्त पंक्ति लग चुकी थी।

यह जिज्ञासा थी उस नन्हें चंद्र खंड—चाँद के टुकड़े को देखने की। शिक्षित, अशिक्षित, स्त्री, पुरुष, आबालवृद्ध, कालेज के छात्र और

छात्राएँ— सभी चंद्र-खण्ड को देखने के लिए आतुर थे, सभी वृत्त में घूम रहे थे।

अगर उस घूमते मानववृत्त का हवाई जहाज से कोई चित्र लेता तो कैसा अद्भुत चित्र आता। और अगर इस वृत्त को लंवाई में खड़ा कर दिया जाता तो पंक्ति कितनी लंवी होती— यह मनोरंजक कल्पना का विषय है।

जितना अद्भुत यह चंद्रखण्ड था, उतनी ही अद्भुत यह पंक्ति। निरंतर चलते रहने पर भी पैंतालीस-पचास मिनट उस नन्हें टुकड़े तक पहुँचने में लग रहे थे।

और आगे-पीछे लोगों को हँसाने वाली टीका-टिप्पणियाँ ! कोई कहता— 'चंद्रयात्रियों को जो समय चन्द्रमा तक पहुँचने में लगा, वही हमें चन्द्रखण्ड तक पहुँचने में लग रहा है' तो कोई—हमलोग भी अपोलो पर बैठकर चन्द्रलोक जा रहे हैं।'

आगे पंक्ति घटाते हुए और पीछे पंक्ति को अनन्त बनाते हुए मैं अंततः वाँस के घेरे में पहुँच गया और प्रविष्ट हुआ उस भवन में, जहाँ चन्द्र-खण्ड था। वाँईं ओर चंद्रयात्रियों के चित्र- आर्मस्ट्रोंग, एल्ड्रिन, कौलिंग। ये साहसी चंद्रयात्री आज के कोलंवस और वास्कोडिगामा, जिन्होंने चंद्रमा के धरातल पर पदार्पण किया, मानवजाति के चिह्न उस अज्ञात क्षेत्र में छोड़े, जहाँ साढ़े चार अरब बरस से कोई नहीं गया था, जिसको लेकर कल्पना के कितने पट बुने गए थे, जो कितनी मादक अनुभूतियाँ जगाया करता था—

शिथिल पड़ी है नभ की बाहों में रजनी की काया,
चाँद चाँदनी की मदिरा में है डूबा भरमाया।

उसी चाँद पर ये लोग हो आए थे, मानवता का संदेश पहुँचा आए थे।

पर रुकने और ठहरने का अवसर कहाँ ? 'आगे बढ़िए, सबको देखना है' के नम्र निवेदन ने खिसकाकर चन्द्रखण्ड के पास ला खड़ा किया।

एक प्रस्तरखण्ड ! चन्द्रखण्ड ! चमकते हुए धवल आधार पर घूम रहा था— घूम रहा था और दर्शकों की जिज्ञासा शांत कर रहा था।

क्या यही है चांद्रशैल खण्ड ! मून रॉक ! काला-काला एक छोटा-सा टुकड़ा, जिसमें चमक रहे थे नन्हें नन्हें श्वेतकण ! यह चांद्रशैल खण्ड है, एक पत्थर का टुकड़ा है अत्यंत नीरस ! पर नीरस कहाँ ? यह अत्यन्त सरस है। यह कवि की कल्पना है, वैज्ञानिकों की वैज्ञानिक कविता है।

सृष्टि के आदिकाल में जब मानव की आँखें खुली होंगी तो वह सबसे अधिक दो ही ग्रहों से प्रभावित हुआ होगा—एक सूर्य से और दूसरे चन्द्रमा से। सूर्य दिन में प्रकाश देता है, आदिकवि के आदि छंद की तरह सहसा आकाश में उदित हो जाता है और दिये की भाँति दिन भर विश्व को प्रकाशित किये रहता है। प्रातः का सूर्य, मध्याह्न का सूर्य और संध्या का सूर्य—तीनों समय का सूर्य तीन रंगों में, तीन आवरणों में।

और फिर आता है चन्द्रमा ! घटने-बढ़ने वाला चन्द्रमा, विविध-कलाओं वाला चन्द्रमा। इसको विविध कलाएँ देखकर ही किसी आदि-काल में इसको कलानिधि कह दिया गया।

इस चन्द्रमा के साथ सूर्य से कम वैचित्र्य नहीं है। दो दो पाख इसके साथ जुड़े हुए हैं—अँधेरा पाख और उजेला पाख। उजेले पाख में जब यह चमकता है तो सारी धरती इसके शीतल प्रकाश से जगमगा उठती है। प्रकाश और शीतलता दोनों इसमें हैं और दोनों चीजें यह धरती को देता है। सूर्य गरमी से भरा प्रकाश देता है। इसीलिए तो रहीम ने सूर्य से अच्छा चन्द्रमा को माना—

रहिमन राज सराहिये ससि सम सुखद जो होइ ।
कहा बापुरो भानु है तप्यौ तरैयनि खोइ ।।

चंद्रमा रात का सूर्य है, पर शीतल सूर्य ।

मनुष्य कल्पनाशील है और अन्वेषी । अपने इन्हीं गुणों से उसने तीनों लोकों को वश में कर रखा है । आकाश में वह पक्षियों की तरह उड़ता है, धरती के अधिकांश रहस्य उसकी मुट्ठी में हैं और धरती के नीचे भी उसका सहज प्रवेश है ।

ऐसा मनुष्य चंद्रमा को समझने, मानने, वहाँ तक पहुँचने के लिए युगों से लालायित रहा है । पहले वह कल्पना से वहाँ पहुँचा, कल्पना से उसे समझा—वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में ।

तब वह हर चीज कल्पना से ही समझता था ।

कल्पना में उसने उसमें अमृत पाया और उसे सुधाकर कहा, सोम कहा ।

कल्पना की समझ के आधार पर ऐसे ही अनेक नाम दिए ।

फिर वैज्ञानिक युग का विकास हुआ । कल्पना की चीर-फाड़ हुई । वहाँ कुछ न मिला । तब वैज्ञानिक ने अपने सरो-सामान से, यंत्र-तंत्र से चंद्रमा को समझने की चेष्टा की । बड़ी-बड़ी दूरबीनों की मदद ली । चंद्रमा से जुड़ी हुई दंतकथाओं के हिरन, सूत कातती बुढ़िया और खरगोश का पता लगाया । मालूम हुआ कि वे कुछ अँधेरी गुफाएँ हैं, अंधकारपूर्ण खड्ड । वह अँधेरा एक विशेष आकार ग्रहण कर लेता है और कभी सूत कातती बुढ़िया के रूप में दिखाई देता है तो कभी हिरन और कभी खरगोश के रूप में ।

वैज्ञानिक ज्ञान बढ़ा, अंतरिक्ष यात्रा की कल्पना शुरू हुई और एक दिन एक आदमी दूर अंतरिक्ष में अपना यान लेकर उड़ गया । उसने

अंतरिक्षयात्रा का मार्ग खोल दिया। फिर कई लोग गए और अंत में एल्ड्रिन आर्मस्ट्रोंग तथा कौलिंस। इन्होंने चंद्रमा पर ही अपने पाँव रख दिए। मानव चंद्रमा पर पहुँच गया—अन्वेषी मानव ! कभी भी शांत न रहने वाला मानव।

मानव जो ठान लेता है, सो कर दिखाता है, अपनी जिज्ञासा, दृढ़ता, संकल्प आदि गुणों के कारण ही तो वह संपूर्ण सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है—'हम अखिल सृष्टि के रत्नमुकुट !'

वैज्ञानिक ज्ञान मानव के लिए एक ऐसा वरदान था कि वह मानव असंभव को भी संभव करने लगा। चंद्रमा पर मानव का अवतरण असंभव को संभव करने जैसा ही काम है। इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि मानव के लिए कुछ भी असंभव नहीं, कुछ भी अगम्य नहीं। न जाने कौन से अजाने लोकों में वह जाएगा, न जाने कहाँ-कहाँ की विजय-यात्रा वह करेगा, न जाने कितने रत्न कहाँ-कहाँ से लाकर वह धरती पर रख देगा।

चंद्रमा का भी न जाने किस सीमा तक अनुसंधान अध्ययन करेगा। कभी संसार के अनेक देश एक दूसरे के लिए अजाने थे—पूर्णतः अपरिचित। आज मनुष्य एक देश में नाश्ता करता है, दूसरे देश में भोजन। नाश्ता और भोजन के बीच के लघु कालखण्ड में वह छह-सात हजार मील उड़ लेता है।

तो कभी चंद्रमा पर भी ऐसे ही उड़कर चला जाया करेगा, यह मानव और ऐसे ही उड़कर आ जाया करेगा। शायद वहाँ रहने के लिए अनुकूल परिस्थितियों का भी वह निर्माण कर ले। तब तो मानव वहाँ रहने भी लगेगा। एक भाई धरती पर होगा, एक भाई चंद्रमा में। दोनों एक-दूसरे का समाचार लेंगे-देंगे, पत्राचार करेंगे। मेरा एच० जी० वेल्स ऐसा ही कहता है।

चमकीले आधार पर घूमनेवाला नन्हा चंद्रखंड इन सभी बातों को कह रहा है। एक बड़ी संभावना का यह संकेत है। यह नीरस भी है, यह सरस भी है, यह विज्ञान भी है, यह कविता भी है।

इसके साथ मानव-इतिहास की एक बड़ी कहानी जुड़ने जा रही है, जुड़ने ही नहीं जा रही है, बल्कि जुड़ गई है। और वह कहानी है मानव की अदम्य शक्ति की, उसकी महान् मेधा की, उसके दृढ़ संकल्प और अद्‌भुत कर्मठता की—

जो फरिश्ते करते हैं, कर सकता है इंसान भी,
पर फरिश्तों से न हो, वह काम है इंसान का।